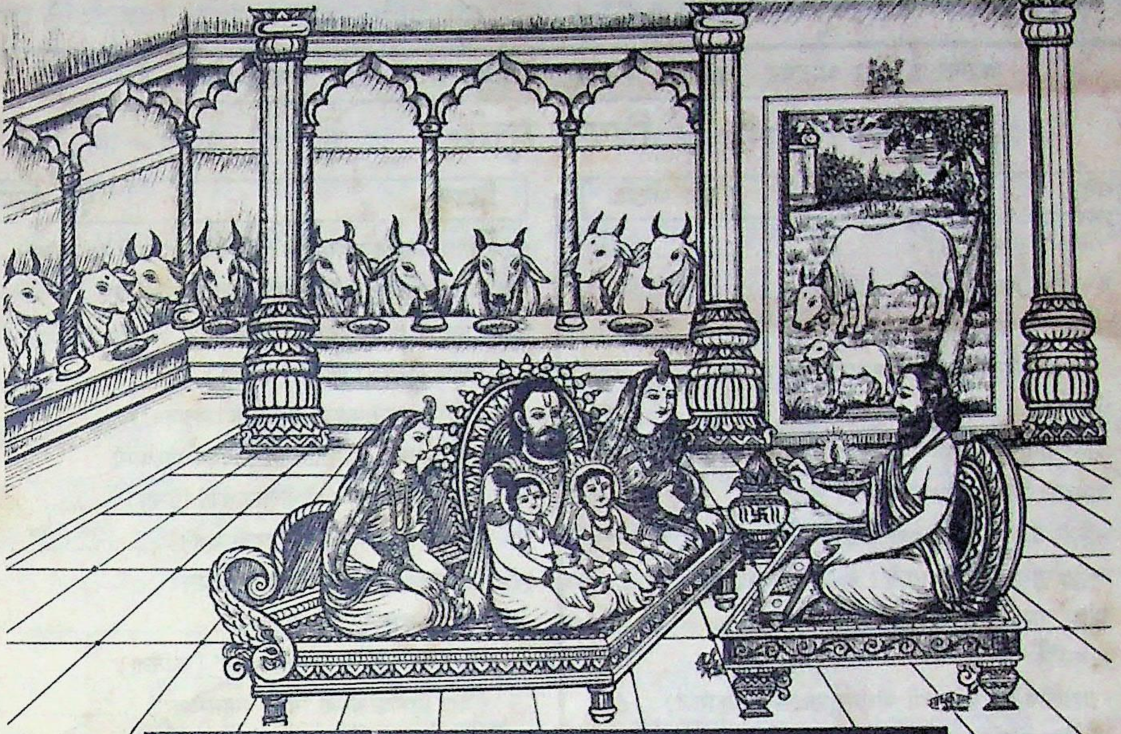
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥



कल्याण

यथाग्निना हेम मलं जहाति ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥

वर्ष ८०

गोरखपुर, सौर भाद्रपद, वि० सं० २०६३, श्रीकृष्ण-सं० ५२३२, अगस्त २००६ ई०

संख्या ८

पूर्ण संख्या ९५७

'श्रीराधा! कृष्णप्रिया!'

श्रीराधा! कृष्णप्रिया! सकल सुमङ्गल मूल।
सतत नित्य देती रहो पावन निज-पद-धूल॥
मिटें जगतके द्वन्द्व सब, हों विनष्ट सब शूल।
इह-पर जीवन रहे नित तव सेवा अनुकूल॥
देवि! तुम्हारी कृपासे करें कृपा श्रीश्याम।
दोनोंके पदकमलमें उपजे भक्ति ललाम॥
महाभाव, रसराज तुम दोनों करुणाधाम।
निज जन कर, देते रहो निर्मल रस अविराम॥

[पद-रत्नाकर]



हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,३०,०००)

कल्याण, सौर भाद्रपद, वि० सं० २०६३, श्रीकृष्ण-सं० ५२३२, अगस्त २००६ ई०

विषय-सूची



चित्र-सूची



वार्षिक शुल्क
भारतमें १३० रु०
सजिल्द १५० रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$25 (Air Mail)
US$13 (Sea Mail)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराद् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

पञ्चवर्षीय शुल्क
भारतमें ६५० रु०
सजिल्द ७५० रु०

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालय के लिये गीताप्रेस, गोरखपुर से मुद्रित तथा प्रकाशित

website : www.gitapress.org | e-mail : booksales@gitapress.org | © (0551) 2334721

सदस्यता शुल्क—व्यवस्थापक—'कल्याण-कार्यालय', पो० गीताप्रेस—२७३००५, गोरखपुर को भेजें।

कल्याण

याद रखो—संसारमें जितने भी जड़-चेतन जीव हैं—सभीमें भगवान् भरे हैं, सभी भगवान्के ही रूप हैं या सभी आत्मरूप हैं—यह समझकर जिन प्राणियोंसे भी सम्पर्क प्राप्त हो, उनके रूप तथा वेशके अनुसार मन, वाणी, शरीरसे दान, सम्मान देकर उनका पूजन या उन्हें सुख-दान करना चाहिये। किसी भी कार्यकी बात सोचते तथा किसी भी कार्यको करते समय यह पूरा ध्यान रखना चाहिये कि इससे किसी भी प्राणीका किसी प्रकारका कोई अहित तो नहीं होगा और केवल मेरा ही नहीं, दूसरोंका भी इससे हित होगा या नहीं।

याद रखो—'स्व' जितना ही सीमित होता है, उतना ही 'स्वार्थ' परिणाममें हानिकारक, अशान्तिदायक, दुःखप्रद और गंदा होता है। 'स्व' जितना ही बृहद्—विशाल होता है, उतना ही 'स्वार्थ' भी पवित्र, परिणाममें लाभकारक, शान्तिदायक तथा सुखप्रद होता है। जो केवल अपने व्यक्तिगत अथवा कुटुम्बतकके लाभके लिये ही सोचा करता है—इसीको स्वार्थ समझता है, वह व्यक्तिगत लाभके लिये चराचर जीवों तथा विश्वमानवोंकी तो कभी बात सोचता ही नहीं, देशको भी भूल जाता है। उसकी ईश्वरभक्ति, देशभक्ति, जनसेवा—सीमित स्वार्थके निम्नस्तरमें उतरकर ईश्वरद्रोह और देशद्रोह तथा जनसंतापतकमें परिणत हो जाती है। ऐसा 'ईश्वरभक्त', 'देशभक्त' तथा 'सेवक' कहलानेवाला वास्तवमें साधारण मनुष्यकी अपेक्षा भी बहुत अधिक खतरनाक होता है—समाजके लिये, देशके लिये, विश्वके लिये। क्योंकि वह अपने नीच स्वार्थभरे आचरणसे ईश्वर, देश तथा सेवाके पवित्र नामको बदनाम करता है, उनके स्वरूपको लोकदृष्टिमें गिराता है और आदर्शको नष्ट करता है।

याद रखो—सेवक, देशभक्त और ईश्वरभक्त पदका अधिकारी वही होता है जिसका 'स्व' छोटी सीमासे निकलकर उत्तरोत्तर बड़ी-से-बड़ी सीमामें पहुँचता हुआ अन्तमें असीममें जा मिलता है। जिसका 'स्व' सर्वभूतमय है, वही सबका सच्चा सेवक बन सकता है, जिसका 'स्व' देशके 'स्व' में मिलकर 'देशात्मबोध' की अनुभूति करा देता है वही 'देशभक्त' होता है और जिसका 'स्व' असीम अनन्त सर्वात्मा भगवान्के साथ एकात्मताको प्राप्त कर सर्वात्मरूप हो जाता है, जो प्रत्येक चराचर प्राणीमें सदा-सर्वदा भगवान्के ही मङ्गलमय दर्शन करता है, वही ईश्वरभक्त है। ऐसे लोगोंके जीवनमें उत्तरोत्तर 'त्याग' की वृद्धि होकर वह सदा असीमकी ओर अग्रसर होता रहता है। जितना-जितना त्याग बढ़ता है उतना-उतना 'स्व' का विस्तार तथा 'स्वार्थ' पवित्र होता है।

याद रखो—जो इन्द्रिय-भोगासक्त है, जो नामरूपके मिथ्या सुखका आकांक्षी है जो प्रत्येक कार्यका भौतिक-भोगफल चाहता है, वह कभी यथार्थ त्याग नहीं कर सकता। उसमें कहीं त्याग दिखायी देगा भी तो वह वस्तुतः भोगके साधनरूपमें होगा। विशुद्ध त्यागका उदय उसमें नहीं होगा और त्यागके बिना कभी न सच्ची सेवा हो सकती है, न भक्ति और न प्रेम ही।

याद रखो—निज भोगसुखके लिये जो विचार तथा कर्म होते हैं, उनमें परहित तथा पर-सुखका खयाल नहीं रहता, वरं अवहेलनासे और नीच स्वार्थवश तमसाच्छन्न विपरीत बुद्धि हो जानेके कारण आगे चलकर दूसरोंके दुःख एवं अहितकी चेष्टा तथा प्रयत्न भी होने लगते हैं और यह निश्चित है कि जिस कार्यसे दूसरोंको परिणाममें असुख और अहित होता है उससे हमारा परिणाममें कभी हित हो ही नहीं सकता। अतएव परिणाममें अपना सुख तथा हित चाहनेवाले बुद्धिमान् पुरुषका यह कर्तव्य होता है कि वह अपने 'स्व' को सीमित न रखकर विस्तृत करे और ऐसे ही विचार तथा कर्म करे, जिनसे परिणाममें विश्वके प्राणिमात्रका सुख तथा हित-साधन हो।—'शिव'

सर्वत्र आनन्दका अनुभव करें

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भगवान् आ गये। वे भगवान् आये। इस तरह प्रतीक्षा करनी चाहिये। सारी प्रजा भगवान्‌के विमानको देखकर उछलने लगी। सबको आतुरता लगी हुई थी। सब बहुत उत्साहित हो रहे थे। भगवान् देखते हैं—इनका तो वैकुण्ठवासियोंसे भी अधिक प्रेम है। जैसे चकोरोंका झुण्ड चन्द्रमाको देखता है, वैसे ही सब देख रहे हैं। कष्टको एकदम भूल जाते हैं। भगवान्‌ने भी उनके अनुसार कार्य किया, एक क्षणमें सबसे मिल लिये—

छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥

(रा०च०मा० ७।६।७, ५)

एक क्षणमें भगवान् सबसे मिल लिये। अनन्तरूप हो गये। जिससे मिलते हैं वही आनन्दित होता है। भगवान् दोषोंकी तरफ खयाल नहीं करते। फिर हम दोषोंकी तरफ देखकर अनुत्साह क्यों लायें—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(रा०च०मा० ७।१।६)

भगवान् बड़े ही दयालु हैं। उद्धार करनेके लिये तैयार रहते हैं। धूलके कण गिने जा सकते हैं पर हमारे कितने जन्म हुए हैं, यह गिनना कठिन है। भगवान्‌ने यह अन्तका जन्म मनुष्यजन्म दे दिया, बड़ी भारी दया कर दी। भगवान्‌की इस दयाको हम नहीं स्वीकार करें तो बड़ी ही मूर्खता है। भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७।१९)

बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

तब हम अज्ञानी क्यों बनें। सब परमात्मा हैं—यह माननेमें क्या लगता है। इस प्रकार जो भजता है, वही महात्मा है। जब ऐसी बात है तो हम सबको परमात्मा ही क्यों न समझें।

यह बात मनुष्यजन्ममें ही मानी जा सकती है, पशु, पक्षी आदि योनियोंमें यह समझनेका कोई साधन नहीं है। हनुमान्‌जी-जैसी बात तो असंख्य कोटि जीवोंमेंसे किसी एकमें ही घटती है। उस प्रकारकी आशा न रखकर हमें तो इसी जन्ममें, इस जन्मके थोड़ेसे हिस्सेमें ही भगवान्‌को प्राप्त कर लेना चाहिये।

परमात्माके निराकार स्वरूपके लिये यह युक्ति समझनी चाहिये—

बादलके बाहर-भीतर सर्वत्र आकाश है, बादलकी तरह दृश्य शरीरमें सर्वत्र विज्ञानानन्दघन परमात्मा बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे सब जगह परिपूर्ण हो रहे हैं। परमात्माके संकल्पके आधारपर ही यह सृष्टि है। हम नेत्रोंको बंद कर लें। अपने भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, ऐसा समझ लें। हम आनन्द-ही-आनन्दसे परिपूर्ण हैं। यह शरीर ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुआ है, उसीमें स्थित है, उसीमें लीन हो जायगा। जैसे बादल आकाशसे ही उत्पन्न है, उसीमें स्थित है और उसीमें लीन हो जाता है।

आनन्दरूपसे वह परमात्मा हमारे बाहर-भीतर परिपूर्ण है। आनन्दके सिवाय कोई वस्तु नहीं है। वही आनन्द आमोद-प्रमोद, सुखके रूपमें आते हैं। आनन्द अत्यन्त सुखरूप है। उस सुखकी कोई सीमा नहीं है। आनन्द-ही-आनन्द है। आनन्दको ब्रह्म समझकर उपासना करनी चाहिये। बुद्धिसे निश्चय करना चाहिये, मनसे मनन करना चाहिये। उस आनन्दका नाम ही नारायण है। नारायण, नारायण, नारायण; आनन्दमय, आनन्दमयका उच्चारण करनेसे मालूम होता है जैसे कोई आनन्दका समुद्र उमड़ आया है। वह आनन्द अपार है, उसमें कोई दूसरी वस्तु नहीं है, अतः वह पूर्ण आनन्द है। वह शान्त आनन्द है, सम है, वह इतना गहरा है कि उसके सिवाय दूसरी वस्तु है ही नहीं वह जड़ नहीं है, चेतनस्वरूप है, वह अनन्त है—उसकी सीमा नहीं है। सब जगह समभावसे परिपूर्ण है। वह नित्य है, अचल है, अव्यक्त है, शुद्ध है, निर्विकार है।

ऐसा आनन्द शरीरके बाहर-भीतर सब जगह परिपूर्ण है। शरीर चलता है तो आनन्दमें ही चलता है, आकाशकी तरह आनन्द सब जगह है। साधनकालमें भी आनन्द है,

सिद्धावस्थामें भी आनन्द है। शब्द, अर्थ, ज्ञान सब आनन्द ही है, आनन्दके सिवाय कोई वस्तु है ही नहीं। हृदयमें आनन्दका ही अनुभव करे, आनन्दका ही उच्चारण करे, प्रत्यक्षमें भी आनन्द, साधनमें भी आनन्द और फलमें भी आनन्द है। सारे भूतशरीर अन्तमें आनन्दमें ही विलीन होकर एक आनन्द ही रह जाता है। जैसे सब बादल आकाशमें विलीन हो जाते हैं और एक आकाश ही रह जाता है, वैसे ही एक आनन्द ही रह जाता है। ऐसे ही ध्यानमें मस्त होकर चलें।

सगुणके विषयमें दूसरी बात कही जाती है। हमलोगोंको यहाँसे उठनेपर समझना चाहिये, वे साक्षात् भगवान् ही हमारे साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। जैसे रामरूपमें प्रकट होकर भाइयोंके साथ क्रीड़ा की थी, कृष्णरूपमें ग्वालबालोंके साथ की थी, वैसे ही हमारे साथ-साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। रमण कहो, क्रीड़ा कहो एक ही बात है। जैसे अत्यन्त प्रिय मित्रके साथ खेलते हैं, हँस-हँसकर बोलते हैं, वैसे ही उन्हींके साथ चलें। सोते हैं तो पास-पासमें सोते हैं, हँसते हैं तो हँसते हैं। सारी क्रियामें एक-दूसरेकी नकल करते हैं। उनकी वाणी बड़ी आनन्ददायक है। सुनकर शरीरमें कम्प होता है, हृदयरूपी सागरमें भगवान्‌के भावकी लहरें उठती हैं। नेत्रोंसे मानसिक रूपसे देख रहे हैं, बड़ा ही मधुर रूप है। मानो नेत्रोंद्वारा रसास्वाद कर रहा हूँ। उस रूपको देख-देखकर, सुन्दर नेत्र, गाल देखकर, उनकी मंद-मंद मुसकान देखकर बड़ा ही अमृतमय रसास्वाद मिलता है। मानो नेत्रोंद्वारा अमृतका ही पान कर रहा हूँ। स्पर्श करता हूँ तो देखता हूँ कैसा दिव्य स्पर्श है। स्पर्शके द्वारा अमृतका आस्वाद ले रहा हूँ। दिव्य गन्ध स्वाभाविक ही हमारी नासिकाके भीतर जा रही है। वे भगवान् हमें देख रहे हैं। अपनी प्रेममयी दृष्टिके द्वारा प्रेमसे भिगो रहे हैं। उस आनन्दसे हम पूर्ण हो रहे हैं। भगवान् जिसको कृपादृष्टिसे देखते हैं, फिर उसे चिन्ता, भय, शोक कहाँ?

प्रेमकी दृष्टिसे देखते हुए हमें प्रेमसे पूर्ण कर रहे हैं। ऐसे प्रभुको हर समय देखता रहे। चन्द्रमा जैसे प्रकाश डालकर शीतल करता है, वैसे ही भगवान् प्रेमरस बरसाते हैं। सारे रोम-रोम, मन, बुद्धि सब भगवान्‌के प्रेमसे परिपूर्ण हो गये। जैसे कोई जादू करके अपने वशीभूत करता हो। प्रेमकी रस्सीसे ऐसा बाँध लिया कि हम उसे छोड़ ही नहीं सकते। बस, हमारी यह अवस्था सदा ही बनी रहे। हमें कोई आवश्यकता नहीं। सदा प्रेमरस पीते ही रहें। अब और एक बात सुनायी जाती है।

उपनिषदोंमें जहाँ तत्त्वकी बात बतायी गयी है, कहा है कि यह ऐसा विषय है, यदि सूखी लकड़ीको सुनाया जाय तो वह भी सजीव हो जाय। हमलोगोंमें जो मृतककी तरह हैं, उनमें भी रस आ जाना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण जब प्रेमसे वंशी बजाते तो लकड़ी गीली हो जाती, हरी हो जाती, उससे धुआँ निकलने लगता तो रसोई ठीक नहीं होती—

मुरहर रन्धनसमये मा कुरु मुरलीरवं मधुरम्।
नीरसमेधो रसतां कृशानुरप्येति कृशतरताम्॥

ये भगवान् श्रीकृष्णकी ही बातें हैं। अपने घरकी तो हैं नहीं। मैं तो टेपरिकॉर्डरकी तरह बोल देता हूँ। सब भगवान्‌के ही वचन हैं। कई सीधे आये हैं, कई कुछ मिलकर आये हैं। भगवान्‌के वचन आकाशवाणीसे भी उतरते हैं, महात्माओंके वचनोंसे उतरते हैं, शास्त्रोंसे उतरते हैं। हमें तो यह समझना चाहिये कि यह हैं तो भगवान्‌के वचन, पर रंग क्यों नहीं चढ़ता। वस्त्र जितना साफ होता है उतना ही बढ़िया रंग चढ़ता है। थोड़ा रंग हमारेपर भी अवश्य आता है, किंतु इसीसे संतोष नहीं कर लेना चाहिये। रंग ऐसा होना चाहिये कि चमकने लग जाय। भगवद्विषयक रंगमें साबुन भी है, अत: वस्त्र मैला हो तो बार-बार रगड़नेसे मैलको काट-काटकर कपड़ेको साफ कर देता है और एकदम रंग चढ़ जाता है। यदि कहें फिर इतना विलम्ब क्यों? तो यही बात आती है कि कपड़ा मैला है। भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यकी बातें ही रंग हैं, बार-बार उनमें डुबकी लगानी चाहिये। समय-समयपर नामका उच्चारण साबुनकी रगड़-पट्टी है, इससे एकदम साफ हो जाता है तो तुरंत रंग चढ़ जाता है।

चुम्बक होता है, जमीनपर लगानेसे लोहेके परमाणु उसके साथ आ जाते हैं, पर उसका मसाला घिसकर साफ कर दें तो वह लोहेको नहीं पकड़ सकता। हमारे हृदयमें मैल है तभी यह विषयोंकी ओर जाता है। इसको घिसकर साफ कर दें तो फिर यह उनकी तरफ नहीं जा सकता।

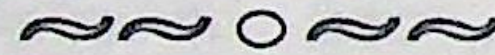
प्रेम या ज्ञानके साबुनसे घिसकर साफ कर दें तो फिर मैलको छूता ही नहीं। छोटा बच्चा जबतक ज्ञान नहीं होता तभीतक मैलेकी ओर जाता है, जब घृणा हो जाती है तो फिर नहीं जाता। बार-बार घृणा करानेसे ऐसी घृणा हो गयी

कि घृणा करानेवालोंसे ज्यादा घृणा हो गयी। इसी तरह जब विषयोंमें घृणा हो जाती है तो उनमें दुर्गन्ध आती है, पासमें भी नहीं जा सकता। वैराग्यका नशा चढ़ जाता है तो फिर इतर, फुलेल मूत्रके समान हो जाते हैं। जितने भी स्त्री आदिके विषय हैं, विष्ठा-मूत्रमें और उनमें अन्तर ही क्या है। विष्ठाके समान हैं। साक्षात् आनन्दको छोड़कर घृणित पदार्थकी तरफ दृष्टि करना मूर्खता है। थोड़ा भी ज्ञान हो जाय तो फिर पासमें भी नहीं जाता।

जब प्रभुमें प्रेम होता है तो वह उसे छोड़कर कहीं जा ही नहीं सकता। आनन्दका ही प्रेमके रूपमें प्रादुर्भाव होता है, आनन्द, प्रेम उसके ही मोटे रूप हैं। आकाशमें बादल ही बूँद, ओले, बर्फके रूपमें होते हैं, वैसे ही वह आनन्दमय परमात्मा ही रस, आनन्द, सुखके रूपमें परिणत होता है, उस आनन्दमें डूब जानेपर फिर कोई उसको छोड़ ही कैसे सकता है। उस भगवान्का वियोग उसे तड़पाता है। मछलीका जब जलसे वियोग होता है, फिर उसे जलमें डालें तो उसमें प्राण आ जाते हैं।

भगवान्के तत्त्व-रहस्य-गुण-लीलाकी बातें ऐसी हैं कि उनको समझ लेनेपर फिर उन्हें छोड़ नहीं सकते। उसमें डुबकी लगानी चाहिये। साक्षात् अलौकिक रूप है, उसमें तन्मय हो जाना चाहिये।

हमको समझना चाहिये, वह आनन्द, ज्ञान, तत्त्व, रहस्य, प्रभाव क्या है? महान् प्रभुका साक्षात् निराकार स्वरूप ही रंग है। रंगके हौदमें कपड़ा डुबो दें तो अणु-अणुमें रंग प्रविष्ट हो जाय। वैसे ही परमात्माके स्वरूपकी चेतनता, शान्ति हमारे अन्दर प्रविष्ट हो गयी। परमात्माके रंगमें रँगकर तृप्त हो गये। वह रंग आया कहाँसे? परमात्मा जो सामने खड़े हैं उनसे। चन्द्रमा जैसे चाँदनीको फैला रहे हैं, अमृतकी वर्षा करते हैं, वैसे ही वे परमात्मा अमृतकी तरह शान्ति, आनन्द, प्रेमकी वर्षा कर रहे हैं, हम उसमें डूब रहे हैं। चन्द्रमासे अमृत चू रहा है, वैसे ही आकाशमें परमेश्वर खड़े हैं, उनसे प्रेम, आनन्दकी वर्षा हो रही है। जैसे सागरमें बर्फको डुबो दे, वैसे ही हम उसमें डूब रहे हैं। ऐसे डूबे हुए हैं जैसे रंगकी हौदमें कपड़ेको डुबा दें। सर्वत्र रंग ही रंग हो जाय। चेतनतारूप जलमें घुले हुए रंगमें ऐसे रँग गये हैं कि बस उसके सिवाय कुछ नहीं है। तन्मय होकर आनन्दरूप हो रहे हैं। यहाँसे चलते हैं, वह इष्टरूप साथ-साथ चलता है। उसके दर्शन, भाषण, स्पर्शसे उत्तरोत्तर इतने मुग्ध हो रहे हैं कि अपनेको ही भूल गये हैं। उसके सिवाय न कोई दूसरी चीज दीखती है और न अनुभव होती है। सियावर रामचन्द्रकी जय।



भगवद्भक्तोंकी निष्ठा

(पं० श्रीकृष्णानन्दजी उपाध्याय 'किशनमहाराज')

भगवत्कृपासे जीवको श्रीमद्भगवत्कैंकर्यस्वरूप सेवासुखसाधनहेतु देवदुर्लभ मानवशरीर भारतवर्षके धराधामपर प्राप्त होता है। इसका एकमात्र यही तात्पर्य है कि भगवत्प्राप्त्यर्थ ही मानव-जीवन मिला है और भगवत्प्रीत्यर्थ ही इस जीवनकी समस्त क्रियाएँ हों, तभी यह सफल और धन्य माना जायगा।

किसी कविका कहना है—

राम कहनेका मज़ा जिसकी जुबाँ पर आ गया।
वह धन्य जीवन हो गया चारों पदारथ पा गया॥

भगवान्के मङ्गलमय नाम, रूप, धाम और लीलाके गुणगण-गानमें जिसकी रति लग गयी, वह धन्यातिधन्य है।

भगवन्नाम तथा भगवान्के अनुगत होनेके माहात्म्यके वर्णनमें कहा गया है—**'कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय'**। अर्थात् भगवान्को प्रणाम करनेवालेका पुनः जन्म नहीं होता। अद्वैतसिद्धि जैसे महान् ग्रन्थरत्नके प्रणेता मधुसूदनसरस्वती महाभाग कहते हैं—

'कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।'

अर्थात् श्रीकृष्णके अतिरिक्त मैं अन्य किसी तत्त्वको नहीं जानता।

यद्यपि जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यमहाभाग षण्मतसंस्थापक एवं अद्वैतानुयायी हैं, किंतु परमानन्द श्रीकृष्णचन्द्र पुरुषोत्तमके स्मरणमें ही वे जीवको शिवत्वप्राप्तिका बोध कराते हैं—

'भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।'

अर्थात् हे मूढमति! तुम केवल गोविन्दका भजन करो।

परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र एवं श्रीराधारानीकी लीला, रास, हास-परिहास, लास्य, विनोद एवं हाव-भावके चिन्तनमें जिन महात्माजनोंका मन रम गया, ऐसे लीलाकथारस-रसिक सुखस्वरूप एवं भगवच्छरणागतिसे अभयपदप्राप्त अकिञ्चन जनोंका दिव्य भाव देखते ही बनता है, उन्हें ब्रह्मसुखका आनन्द आनन्दकन्दकी बाँकी चितवनको देखनेमें ही आता है। वे घुँघराली अलकोंवाले, सीपी-सी पलकोंवाले और नवनीलनीरदसुन्दरातिसुन्दर श्यामसुन्दरके मुखचन्द्रकी छटाको देखनेमें ही मग्न रहते हैं। यथा—

श्याम सुन्दर की देख छटा मैं हो गयी सजनी लटा पटा। या यूँ कहें भक्तिरसामृतमें आकण्ठनिमग्न निष्ठावान् अकिञ्चन जनोंका ध्येय, गेय एवं एकमात्र लक्ष्य श्रीकृष्णपादारविन्दमकरन्दका रसास्वादन ही है। श्रीईश्वरपुरीपाद स्वामीवर्य लिखते हैं—

धन्यानां हृदि भासतां गिरिवरप्रत्यग्रकुञ्जौकसां
सत्यानन्दरसं विकारविभवव्यावृत्तमन्तर्महः।
अस्माकं किल वल्लरीरतिरसो वृन्दाटवीलालसो
गोपः कोऽपि महेन्द्रनीलरुचिरश्चित्ते मुहुः क्रीडतु॥

अर्थात् पर्वतराजके विशुद्ध कुञ्जोंमें निवास करनेवाले, निर्भेद ब्रह्मज्ञानी, धन्यमान महापुरुषोंके हृदयमें विकारवैभवरहित, अन्तःकरणका उत्सवस्वरूप यदि कोई अनिर्वचनीय सत्यानन्दरस प्रकाशित होता हो तो होने दो, हमें उससे कोई प्रयोजन नहीं, किंतु हमारे हृदयमें तो निश्चय ही गोपीरतिस्वरूप वृन्दावनविलासी, इन्द्रनीलमणिकान्तिमनोहर कोई गोप निरन्तर क्रीडा करता रहे।

श्रीमद् यादवेन्द्रपुरी स्वामीवर्य श्रीगोविन्द-गोपकुल-भूषण, नन्दनन्दन, यशोदानन्दवर्धन लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्णके प्रति पूर्णरूपसे समर्पित हैं, उनकी विलक्षण निष्ठा दर्शनीय है। वे कहते हैं—कवित्वमें निष्ठा रखनेवाले रसकी प्रशंसा करें तो करें, वेदान्तके अधिकारीजन ब्रह्मानन्दरसरूपी अमृतकी प्रशंसा करें तो करें, किंतु हम तो गलेमें गुञ्जाकी सुन्दर माला लटकाये हुए और हाथमें वेणु धारण किये हुए किसी दूसरे ही तत्त्वका आश्रय ग्रहण करते हैं—

रसं प्रशंसन्तु कवित्वनिष्ठा
ब्रह्मामृतं वेदशिरो निविष्टाः।
वयं तु गुञ्जाकलितावतंसं
गृहीतवंशं कमपि श्रयामः॥

इसी प्रकार अन्य रसिकशिरोमणि कहते हैं—

ध्यानातीतं किमपि परमं ये तु जानन्ति तत्त्वं
तेषामास्तां हृदयकुहरे शुद्धचिन्मात्र आत्मा।
अस्माकं तु प्रकृतिमधुरः स्मेरवक्त्रारविन्दो
मेघश्यामः कनकपरिधिः पङ्कजाक्षोऽयमात्मा॥

भाव यह है कि जो ध्यानसे परे किसी परम तत्त्वको जानते हैं, उनके हृदयदेशमें तो विशुद्ध चिन्मात्र आत्मतत्त्व प्रतिष्ठित रहता है किंतु हमारी हृदयगुहामें स्वभावतः मधुर, मन्द मुसकानयुक्त मुखकमलवाला, मेघके समान श्यामवर्ण, पीताम्बर ओढ़ा हुआ तथा कमलनयन (श्रीकृष्ण ही) आत्मारूपसे विराजमान रहता है।

परम भागवत भगवत्पादारविन्दरसमकरन्दाभिलाषी अकिञ्चन जन तो यहाँतक कह रहे हैं कि हमारा मन तो नीलनीलधर निकुञ्जनिवासी नित्यनवायमान नव्यलावण्यपुञ्ज श्रीनीलमणिश्यामसुन्दरके अलावा कुछ चाहता ही नहीं है। यथा—

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति॥

(गीता०गूढा० १३।१)

अर्थात् ध्यानाभ्याससे मनको स्ववश करके योगीजन यदि किसी प्रसिद्ध निर्गुण, निष्क्रिय परमज्योतिको देखते हैं तो वे उसे भले ही देखें; हमारे लिये तो श्रीयमुनाजीके तटपर जो कृष्णनामवाली अलौकिक नील ज्योति दौड़ती-फिरती है, वही चिरकालतक लोचनोंको चकाचौंधमें डालनेवाली हो।

भगवच्चरणचञ्चरीक भगवत्पादारविन्दमकरन्दरसपिपासु सुधीजन भुविभावुकरसिकवृन्दजनका मनमधुप तो अहर्निश भगवच्चरणरजपंककी शीतलतामें ही सार्वभौम साम्राज्य समझता है—

'न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं'''।'

उन्हें स्वर्गका साम्राज्य, इन्द्रपद, कुबेरका खजाना सब कुछ तुच्छ लगता है। श्रीअरविन्दलोचन भगवान्‌के चरणारविन्द-मकरन्दरसास्वादनके सामने सब नगण्य है।

श्रीभक्तवर कविरत्न महाशयकी भगवन्निष्ठा देखनेयोग्य है—

जातु प्रार्थयते न पार्थिवपदं नैन्द्रे पदे मोदते
सन्धत्ते न च योगसिद्धिषु धियं मोक्षं च नाकाङ्क्षति।
कालिन्दीवनसीमनी स्थिरतडिन्मेघद्युतौ केवलं
शुद्धे ब्रह्मणि वल्लकीभुजलताबद्धे मनो धावति॥

उपर्युक्त श्लोकका अर्थ कितनी सुन्दर युक्तिसंगत भक्तिरसपरिपूर्ण निष्ठाका परिचय देता है—कहते हैं कि मेरा मन कभी भी चक्रवर्तिपदको नहीं चाहता, इन्द्रपदवीपर भी प्रसन्न नहीं होता, योगसिद्धियोंमें भी बुद्धिको नहीं लगाता एवं मोक्षकी भी आकांक्षा नहीं करता, किंतु केवल श्रीयमुनानदीयुक्त श्रीवृन्दावनकी सीमासे स्थिर बिजलीयुक्त मेघकी-सी कान्तिवाले गोपियोंकी भुजलतामें बँधे हुए अर्थात् गोपीगणालिङ्गित किसी अनिर्वचनीय शुद्ध ब्रह्मकी ओर भागना चाहता है, भागता रहता है।

किञ्चित् विचार करें, कितनी विशुद्ध रति-मति भगवत्सेवामें है। जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी महाराजकृत देव्यपराधक्षमापनस्तोत्रमें कहा गया है—

न मोक्षस्याकाङ्क्षा भवविभववाञ्छापि च न मे
न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छापि न पुनः।
अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै
मृडानी रुद्राणी शिव शिव भवानीति जपतः॥

अर्थात् मुखमें चन्द्रमाकी शोभा धारण करनेवाली मा! मुझे मोक्षकी इच्छा नहीं है, संसारके वैभवकी भी अभिलाषा नहीं है; न विज्ञानकी अपेक्षा है, न सुखकी आकाङ्क्षा; अतः तुमसे मेरी यही याचना है कि मेरा जन्म 'मृडानी, रुद्राणी, शिव, शिव, भवानी'—इन नामोंका जप करते हुए बीते।

श्रीमद्भागवतमें श्रीशौनकजीके द्वारा यह प्रश्न करनेपर कि श्रीशुकदेवजी तो अत्यन्त निवृत्तिपरायण हैं, उन्हें किसी भी वस्तुकी अपेक्षा नहीं है। वे सदा आत्मामें ही रमण करते हैं फिर उन्होंने इस भागवती कथाका क्यों श्रवण किया। इसपर सूतजीने निम्न श्लोक उन्हें सुनाया—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १।७।१०)

अर्थात् जो लोग ज्ञानी हैं, जिनकी हृदयकी गाँठ खुल गयी है और जो सदा आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं, वे भी भगवान्‌की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे मधुर हैं, जो सबको अपनी ओर खींच लेते हैं।

भक्तवाञ्छाकल्पपादप भक्तवाञ्छाकल्पतरु प्रणतपारिजात प्रणतकामधेनु प्रणतार्तिहर श्रीहरि अनेकानेक नाम, रूप एवं उपाधिभेदसे सर्वत्र प्रतिष्ठित हैं।

इनके आराधक जब रससारसर्वस्वमें निमग्न हो जाते हैं तब *'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई'* तदाकार, तद्रूप, तद्वत् हो जाते हैं, इसी स्थितिको ब्राह्मीस्थिति कहते हैं और इस भावको दुनिया 'पागल' कहती है, 'दीवाना' कहती है या 'जड़' कहती है, किंतु वह साधक उस जड़ताको धन्य समझता है। जिस भावके लिये बड़े-बड़े योगीन्द्र, मुनीन्द्र, महात्मा, अमलात्मा अहर्निश प्रयास करते हैं फिर भी उन्हें प्राप्त नहीं हो पाता, किंतु भगवद्भावरसिकजनको यह सहज उपलब्ध हो जाता है। ऐसे परमावस्थाप्राप्त सज्जनके लिये फिर जगत्का व्यवहार, लोकलाज, विधि-निषेधरूप सारा प्रपञ्च पीछे छूट जाता है, कहा भी है—

लोक लाज कुळकी मरजादा या में एक न राखूँगी।
श्रीगिरधर आगे नाचूंगी॥

× × × ×

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥

× × × ×

मैं मद पीयो म्हारे श्याम धणी, को मस्त रहुं दिन राती॥

इत्यादि उदाहरणोंसे यह निष्कर्ष निकलता है कि उत्तमोत्तम भक्तिरसाभिव्यक्तिकी अवस्थामें विशेष स्थिति बन जाती है।

अतः वेदशास्त्रप्रतिपादितवर्णाश्रमव्यवस्थारूप स्वधर्म-अनुष्ठानका पालन करते हुए व्यक्तिको भक्ति, ज्ञान, वैराग्यपथका पथिक होना चाहिये, इसमें ही जीवनकी सार्थकता है।

'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' इस भगवदादेशके अनुसार श्रुति, स्मृति, धर्मशास्त्ररूप भगवदाज्ञाका पालन करना, निष्ठापूर्वक स्व-स्व जाति, वर्ग, वर्ण, आश्रमव्यवस्थारूप आचार, व्यवहार, आहार, विहारका पालन करना—यही श्रेष्ठतम कर्तव्य है।

कबीर, रैदास, धन्ना भगत, करमाबाई, मीराबाई, पीपा, नामदेव, रामानन्दी, भजनानन्दी भागवतानन्दी अनेकानेक संत, सद्गृहस्थ सदन कसाई, रहीम, रसखान, ताजबीबी जैसे लोगोंने स्व-स्व जात्यनुरूप वर्णाश्रमव्यवस्थामें रहकर जिस प्रकारसे सन्मार्ग, साधुसंग, सत्संगका अनुगमन किया है, आज उसकी विशेष आवश्यकता है।



श्रीभरत-चरित्र

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[गताङ्क पृ०-सं० ७५४ से आगे]

बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥
सरल सुसील धरम रत राऊ। सो किमि जानै तीय सुभाऊ॥

(रा०च०मा० २। १६२। ४-५)

स्त्रियोंके हृदयकी गति कोई नहीं जानता। यह कैकेयीमें बात ठीक घटित हुई थी। भरतजी सोचते हैं—कैकेयीके समान रामजीको प्यार करनेवाली, कैकेयीके समान रामको प्यारा बतानेवाली कौसल्या भी नहीं थी। यह कितनी रामकी बड़ाई करती। कितना रामको प्यार करती, रामके नामपर उछल पड़ती तथा रामके सामने मुझको भी कुछ नहीं मानती थी। पर आज मुझे लगता है कि यह सारा कपट था। यह सारा इसका पाप था। यह तो अवगुणकी खान है। वे कहने लगे—सचमुच स्त्रियोंके मनका पता नहीं लगता। वह सारे कपट, सारे पाप और सारे अवगुणोंकी खान है। जब किसी जातिमें कोई एक बिगड़ता है तो सारी जातिपर लांछन आता है। इसलिये सबको सावधान रहना चाहिये कि हम बिगड़ेंगे तो हमारी जातिवाले अच्छा नहीं कहलायेंगे। तब भरतजी महाराज बोले—ठीक ही है। पिताजीको इन कपटोंका क्या पता? वे सरल, सुशील स्वभाव एवं धर्मरत थे। लक्ष्मणजीने तो वाल्मीकीय रामायणमें पिताको स्त्रैण कहा है कि वे नारीके वशमें हैं, उनकी बुद्धि मारी गयी। पर भरत तो शीलसम्पन्न स्वभाववाले हैं। भरत कहते हैं कि पिताजी बड़े सरल, सुशील स्वभावके थे, धर्मरत थे। उनको क्या पता कि स्त्रीके हृदयमें क्या बसता है? जो काम कैकेयीने किया, वह कोई नहीं कर सकता।

अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं॥
भे अति अहित रामु तेउ तोही। को तू अहसि सत्य कहु मोही॥
जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई। आँखि ओट उठि बैठहि जाई॥

भरतजीने कैकेयीसे कहा—संसारमें ऐसा कोई प्राणी, जीव-जन्तु है, जिसे राम प्राणप्रिय न हों? जो राम मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी, कीट-पतंग सबके प्राणप्रिय हैं वे राम तुझे खोटे लगे, वे राम तुझको अहित करनेवाले लगे। तू है कौन, बता? भरतजीको रोष आ गया। बोले—जो कुछ भी हो। तू जो है, सो है। मुँहमें कालिख पोतकर अलग बैठ जा। मुझे मुँह मत दिखा। चली जा।

कैकेयीकी सारी आशापर तुषारापात हो गया।

अब भरतजी रोने लगे। मातापर रोष जो था, वह अब विषादमें परिणत हो गया। फिर बोले—

राम बिरोधी हृदय तें प्रगट कीन्ह बिधि मोहि।
मो समान को पातकी बादि कहउँ कछु तोहि॥

(रा०च०मा० २। १६२)

मेरे मनका जो पाप था, मेरे मनमें जो रामका विरोध था, उसे विधाताने आज प्रकट कर दिया अथवा मैं रामविरोधी हूँ, यह बात आज विधाताने सबके सामने प्रकाशित कर दी। मेरे समान कौन पापी है! तुझको तो मैं व्यर्थ ही दोष देता हूँ। सारे पापका मूल तो मैं ही हूँ। मैं नहीं होता तो तुम्हारे मनमें यह बात आती ही क्यों? इसलिये दोष तुम्हारा नहीं, दोष मेरा है। यूँ कहकर भरतके मनमें फिर शोक छा गया। शोक आया, फिर वे चुप हो गये। तीन चीजें आयी थीं—शोक आया था, विषाद आया था और रोष आया था। रोषने बोलवा दिया, विषादने सहमा दिया और शोकने फिर वाणी अवरुद्ध कर दी। चुप हो गये। यह भरतके चरित्रका एक दृश्य है। ऐसे कई दृश्य हैं।

फिर भरतजी माता कौसल्याके सामने जाते हैं। यह दूसरा दृश्य है, जो बहुत ही सुन्दर है।

भरतजीने मनमें सोच लिया कि यह माँ (कैकेयी) तो मेरी माँ नहीं है। इस माँका तो मुँह देखना पाप है। अतः इस महलमें ठहरना, पानी पीना, बैठना-उठना भी पाप है। फिर भरतजी वहाँसे निकले और पीछे-पीछे शत्रुघ्नजी निकल पड़े। दोनों कौसल्याके पास पहुँचे। यहाँ तो कैकेयी हँस रही थी, वह आरती लेकर आयी थी, यहाँ कैकेयी मुदितमन थी और उसने उत्साहपूर्वक

सारी बातें कहीं, किंतु कौसल्याजीके महलका दृश्य ही दूसरा है—

मलिन बसन बिबरन बिकल कृस सरीर दुख भार।
कनक कलप बर बेलि बन मानहुँ हनी तुसार॥

(रा०च०मा० २।१६३)

भरतजीने जाकर देखा कि कौसल्या मैया मैले कपड़े पहने हैं। उनके अङ्गका रंग बदल गया है—बिबरन हो गयी हैं। विकल हैं—व्याकुल हैं। शरीर सूख गया है। दुःखका भार सह नहीं पा रही हैं, मानो कनक कल्पवृक्षकी लतापर हिमपात हो गया है। यह दशा है। भरत सामने पहुँचे, किंतु प्रणाम नहीं कर पाये।

भरतहि देखि मातु उठि धाई। मुरुछित अवनि परी झइँ आई॥

(रा०च०मा० २।१६४।१)

भरतको देखते ही माँ उठी, दौड़ी, परंतु मारे शोकके विकल हो गयी, मूर्च्छा आ गयी और जमीनपर धड़ामसे गिर पड़ी।

देखत भरतु बिकल भए भारी। परे चरन तन दसा बिसारी॥

(रा०च०मा० २।१६४।२)

उनकी यह दशा देखकर भरत बड़े व्याकुल हो गये। उनके मनमें आया कि कुलंगाररूप मैं ही इसमें कारण हूँ। फिर वे उनके चरणोंमें गिर पड़े और कहने लगे—

मातु तात कहँ देहि देखाई। कहँ सिय रामु लखनु दोउ भाई॥
कैकइ कत जनमी जग माझा। जौं जनमि त भइ काहे न बाँझा॥
कुल कलंकु जेहिं जनमेउ मोही। अपजस भाजन प्रियजन द्रोही॥
को तिभुवन मोहि सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥
पितु सुरपुर बन रघुबर केतू। मैं केवल सब अनरथ हेतू॥
धिग मोहि भयउँ बेनु बन आगी। दुसह दाह दुख दूषन भागी॥

(रा०च०मा० २।१६४।३—८)

भरतजी व्याकुल होकर रोने लगे। बोले—मैया! पिताजी कहाँ हैं? पिताजीको दिखा दो और सीता मैया तथा मेरे प्यारे भाई राम और लक्ष्मण कहाँ हैं? बता? अरी मैया! जगत्‌में कैकेयीने क्यों जन्म लिया और यदि जन्मी ही थी तो यह बाँझ क्यों न रह गयी, जिसने इस कुल-कलंकी भरतको जन्म दिया, जो अपने प्यारोंका दोषी है और सारे संसारमें जिसने अकीर्तिका कलंक प्राप्त किया। मैया! मेरे समान तीनों लोकोंमें अभागा कौन है? जिसके कारण तेरी आज यह दशा है। तू पड़ी है। मेरे पिता स्वर्ग सिधार गये और रघुकुलचन्द भैया राम आज वनमें है। इस सारे अनर्थका मूल कारण तो मैं ही हूँ। मुझे धिक्कार है। मैं इस बाँस-वनके लिये आग बन गया—यह कहते-कहते भरत व्याकुल हो गये। भरतकी दशा देख करके माताकी मूर्च्छा टूट गयी।

मातु भरत के बचन मृदु सुनि पुनि उठी सँभारि।
लिए उठाइ लगाइ उर लोचन मोचति बारि॥

(रा०च०मा० २।१६४)

कौसल्या मैयाने देखा कि मेरे भरतका कहीं अनिष्ट न हो जाय, वे सावधान हो गयीं। उन्होंने अपने दुःखको सँभाला। भरतके मृदुवचनोंसे मैयाको चेतना आ गयी। मैया उठीं और उन्होंने भरतको हृदयसे लगा लिया। उनकी आँखें (अश्रुप्रवाह) भरतके सिरका अभिषेक करने लगीं। वे बड़ी सरलहृदया माता हैं—

सरल सुभाय मायँ हियँ लाए। अति हित मनहुँ राम फिरि आए॥

(रा०च०मा० २।१६५।१)

कौसल्या माताका स्नेह उमड़ा। उन्होंने भरतको हृदयसे लगा लिया। फिर शत्रुघ्नजीको खींचा, उन्हें हृदयसे लगा लिया। अब उनके हृदयमें दो चीजें हैं—एक शोक और दूसरा स्नेह। बीती बातका शोक होता है—राम-वनगमन और स्वामीका मरण। ये शोक हुआ। ये दो शोक मनसे जाते नहीं और भरतका यह हाल देखकर मनमें प्रेम उमड़ा, स्नेह उमड़ा। फिर,

भेंटेउ बहुरि लखन लघु भाई। सोकु सनेहु न हृदयँ समाई॥

(रा०च०मा० १६५।२)

कौसल्याके हृदयमें शोक और स्नेह समाते नहीं हैं। लोग खड़े थे आस-पास। कैकेयीकी बात सबने सुनी थी। जब भरतजी कौसल्याके पास आये तो बहुत लोग खड़े थे। सबने देखा तो रामके माताकी दशा देखकर सबके मनमें श्रद्धा हो गयी। रामकी माँ हैं न! ऐसी क्यों न होती—

देखि सुभाउ कहत सबु कोई। राम मातु अस काहे न होई॥
माताँ भरतु गोद बैठारे। आँसु पोंछि मृदु बचन उचारे॥

(रा०च०मा० २।१६५।३-४)

[क्रमशः]

तत्सुखसुखिया श्रीराधारानी

(पं० श्रीकपिलदेवजी तैलंग, एम०ए०, बी०एड्०, साहित्यरत्न)

सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्त्यादिहेतवे।
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः॥

प्रस्तुत मङ्गलाचरणमें भगवान्के त्रिविध रूपोंका वर्णन किया गया है। परमात्मा सत्स्वरूप हैं, चित्-स्वरूप हैं एवं आनन्दस्वरूप हैं। संतोंने कहा है—

सत्-शक्ति श्रीवृन्दावनधाम, चिच्छक्ति परमात्माकी चिन्मयी शक्ति श्रीयोगमाया एवं आनन्दरूपा आह्लादिनी शक्ति श्रीराधा ही हैं। इस प्रकार परमात्मामें सत्-शक्ति, चिच्छक्ति और आह्लादिनी शक्ति—तीनों नित्य अभिन्न विद्यमान हैं। अतः वृन्दावनधाम, योगमाया शक्ति तथा श्रीराधा नित्य हैं। भगवान्की लीला भी नित्य है, अनादि अनन्तकालसे सतत सञ्चालित है।

सच्चिदात्मिका शक्तिमें जब आह्लादका समावेश हुआ तो श्रीराधास्वरूप प्रकट हुआ। जैसे सूर्यसे ताप, चन्द्रसे शीतलता, जलसे वीचि भिन्न नहीं की जा सकती, उसी प्रकार श्रीकृष्णसे आह्लादिनी शक्ति पृथक् नहीं की जा सकती। वे ही राधा हैं।

दिव्य वृन्दावनधाममें जब श्रीकृष्ण आनन्दातिरेकमें निमग्न हो गये तथा दिव्य आनन्दकी अनुभूति करने लगे, तब उनका वह दिव्यानन्द साकार होकर एक बालिकाके रूपमें प्रकट हो गया, उसकी मोहिनी दिव्य छटासे श्रीकृष्ण स्वयं विमोहित हो गये। अतः उन्होंने उसमें स्व-प्राणशक्तिका निक्षेप कर दिया, वही श्रीराधा बन गयी—

रसो यः परमानन्द एक एव द्विधा भवत्।
श्रीराधाकृष्णरूपाभ्यां तस्यै तस्मै नमो नमः॥

दोनोंका प्रेम-साहचर्य इस प्रकार है—

जयति जयति श्रीराधिके बंदौ पद अरविंद।
चहत मुदित मकरंद मृदु जेहि ब्रजचंद मलिंद॥

श्रीराधाके पदकमल हैं, जिनका पराग श्रीकृष्ण भ्रमररूपमें ग्रहण करते हैं।

उन्हीं श्रीराधाकृष्णको रामानुज तथा मध्वसम्प्रदाय लक्ष्मीनारायणके रूपमें देखते हैं, निम्बार्कमतमें दोनों एक भी हैं, दो भी हैं।

गौडसम्प्रदायमें दोनों एक रूप ही हैं। श्रीवल्लभाचार्यके मतमें राधा ही ब्रह्मरूपा हैं।

'राधा' शब्दकी व्युत्पत्तिके सम्बन्धमें विद्वानोंका कथन है कि इस शब्दका निर्माण **'राध्'** धातुसे हुआ है—

गोलोकमें रासके अवसरपर जो भगवान्के सामीप्यमें धावन करते हुए गयी, वह राधा बन गयी—

रासे सम्भूय गोलोके या दधाव हरेः पुरः।
तेन राधा समाख्याता पुराविद्भिः द्विजोत्तमैः॥
'कृष्णेन आराध्यते या सा राधा।'

अर्थात् श्रीकृष्ण जिसकी आराधना करते हैं, वे ही राधा हैं।

'कृष्णं आराधयति या सा राधा।'

अर्थात् जो श्रीकृष्णकी आराधना करें, वे ही राधा हैं।

श्रीराधाकी भक्ति अनोखी, अद्भुत, अपार है—

'स्वसुखवाञ्छालेशरहिता श्रीकृष्णसुखैकतात्पर्यरूपा भक्तिः। यथा व्रजगोपिकानाम्।'

अर्थात् जिसमें स्वसुखवाञ्छा लेशमात्र भी न होकर केवल अपने प्रियतम श्रीकृष्णके सुखसे अभिप्रेत हो, वही भक्ति—वही राधाकी भक्ति है।

किसी कविने भी कहा है—

राधा तू बड़ भागिनी कौन तपस्या कीन।
तीन लोक तारन तरन सो तेरे आधीन॥

गोपीयूथाभिस्वामिनी श्रीराधा भक्तिमार्गकी आचार्या हैं। आचार्य वही है, जो कोई विशिष्ट सर्वमान्यपद्धतिका प्रवर्तन करे। इस दृष्टिसे गोपीजनोंने भक्तिमार्गकी नयी पद्धतिका आविष्कार किया, जो अनेक आचार्य एवं मुनिगणोंके लिये भी दुर्लभ है। जैसा कि श्रीमद्भागवत (१०।४७।२५)-में उल्लिखित है—

भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा।
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा॥

राधाकी भावना कृष्णमय थी। वे कहती हैं कि श्रीकृष्णविरहमें यदि मेरा तन पञ्चतत्त्वोंमें विलीन हो जाय तो मेरी इच्छा यह है कि मेरे शरीरका जलतत्त्व वृन्दावनकी वापियों, तड़ागोंमें विलीन हो जाय; मेरा अग्नितत्त्व उस दर्पणके प्रकाशमें संलग्न हो जाय, जिससे मेरे प्राणाधारस्वरूप निहारते हों। नन्दनन्दनके क्रीडा-आँगनमें मेरा आकाशतत्त्व समा जाय तथा ताल-तमालके वृक्षोंकी वायुमें मेरा वायु-

तत्त्व विलीन हो जाय, मैं विधातासे बार-बार प्रार्थना कर यही वर माँगती हूँ—

पञ्चत्त्वं तनुरेति भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटम्
धाताहं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्।
तद्वापीषु पयः तदीय मुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गनम्
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलम्॥

रासपञ्चाध्यायीमें जब श्रीकृष्ण अन्य गोपियोंके सौभगमद एवं मानका अवलोकन करते हैं, तब वे एक प्रियतम सखीको लेकर अन्तर्धान हो जाते हैं। तब गोपियाँ कहती हैं—

'अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।'
(श्रीमद्भा० १०।३०।२८)

इस सखीने निश्चय ही हरिकी आराधना की होगी, तभी हम सबका परित्याग कर भगवान् उसे अपने साथ ले गये हैं। यहाँ **'राधितः'** संकेतरूपमें प्रयुक्त किया गया है।

श्रीराधाजी शुकदेवजीकी गुरुरूपा हैं और श्रेयस्कामीको गुरुका नाम लेना वर्जित है। वे वृषभानुजाके अन्तःपुरके पालित शुक रहे, उनसे ही नामदीक्षा ग्रहण की। इसलिये भागवतमें श्रीराधाजीका व्यक्त नाम नहीं दीखता।

श्रीमद्भागवतकी परम्परा ब्रह्मा, सनकादिक, नारद-व्यासजीसे होते हुए शुकदेवजीतक पहुँची। फिर राजा परीक्षित्ने श्रवण की। महर्षि वेदव्यास अपने पुत्र श्रीशुकदेवजीके मनोभावोंको भली-भाँति जानते थे। शुकदेवजीने स्वयं अपने पिता श्रीव्यासजीसे भागवत प्राप्त की। अतः यदि कहीं राधाका नाम आ गया तो शुकदेवजीको तो नाम-श्रवणमात्रसे ही समाधि लग जायगी। वे भाव-समाधिमें डूब जायँगे; अतः कैसे आगे बढ़ेगी श्रीमद्भागवतकी परम्परा? कैसे होगा राजा परीक्षित्का उद्धार आदि? अतः श्रीराधाके नामके साथ किसी अन्य गोपीका नामोल्लेख भी समीचीन नहीं समझा। अतः परीक्षित्के हितैषी भावका संरक्षण करनेहेतु श्रीव्यासदेवजीने राधा नामका उल्लेख नहीं किया। क्योंकि—

'राधास्मरणमात्रेण मूर्च्छा षाणमासिकी भवेत्।'

इस बातको वंशीके रूपावतार रसशिरोमणि हितहरिवंश महाराजने भी स्पष्ट लिखा है—

परमधन राधे नाम अधार।
जाहि स्याम मुरलीमें टेरत, सुमिरत बारंबार॥
जंत्र-मंत्र और बेद तंत्रमें सबै तारकौ तार।
श्रीसुक प्रकट कियो नहिं यातैं जानि सारको सार॥

भक्ति तीन प्रकारकी कही गयी है—१. तदीया, २. त्वदीया और ३. मदीया। तदीया भक्ति वह है कि भगवान् भक्तोंके हैं—यह तदीया भक्ति है। त्वदीया भक्ति वह है, जिसमें भक्त अपनेको भगवान्का मानता है—'मैं तेरा हूँ भगवान्।' तीसरी भक्ति मदीया है अर्थात् भगवान् मेरे हैं—गोविन्द मेरा है, गोपाल मेरा है।

इस मदीया भक्तिमें भक्तका सब कुछ भगवान् ही बन जाते हैं। स्वयंका आग्रह, रूप, स्वरूप, आकाङ्क्षाएँ, इच्छाएँ सब आराध्यको समर्पित हो जाती हैं।

'जैसे राखि हो, तैसेहि रहि हौ।'

श्रीराधाकी मदीया भक्ति थी। अतः स्वसुख-वाञ्छालेशरहिता, श्रीकृष्णसुखैकतात्पर्यरूपा भक्ति श्रीराधाकी रही है। अपना सुख कोई सुख नहीं, प्रियतमका सुख ही अपना सुख है।

प्रियतम श्रीकृष्णको यदि मथुरामें रहना प्रिय लगता हो, वहाँ उन्हें सुखानुभूति होती हो तो वे वहीं रहें। वृन्दावन कदापि न आवें। श्रीरूपगोस्वामीजीने उज्ज्वलनीलमणि (स्थायीभावप्रकरण, १६९)-में यही भाव प्रकट किया है—

स्यान्नः सौख्यं यदपि बलवद् गोष्ठमाप्ते मुकुन्दे
यद्यल्पापि क्षतिरुदयते तस्य मागात्कदापि।
अप्राप्तेऽस्मिन् यदपि नगरादार्तिरुग्रा भवेन्नः
सौख्यं तस्य स्फुरति हृदि चेत् तत्र वासं करोतु॥

यदि प्रियतमका सुख वहीं बसनेमें है तो वे वहीं रहें, मैं सारे कष्ट—वेदना सहन कर लूँगी, मेरा सुख उनके सुखमें विलीन है।

'तत्सुखे सुखित्वम्' जिसमें लेशमात्र भी स्वार्थ नहीं, स्वहित नहीं, विरहवेदना कितनी ही तीव्र हो, सहनी रहेगी। वह वेदना भी सुखदायी बन जायगी, यदि वे वहाँ प्रसन्न हैं। धन्य है यह भक्तिकी अतिरेकता, अतिशयता।

राधा स्वयं कृष्णमय थीं। अंग-अंग एवं अन्तरङ्गमें भी कृष्णका निवास था।

सूर्योपरागके समय वृन्दावनवासी—नन्द, यशोदा, गोपियाँ सभी कुरुक्षेत्रमें उपस्थित हुए। इधर श्रीद्वारकाधामसे श्रीकृष्ण, समस्त रानियाँ, रुक्मिणी आदि भी समुपस्थित हुईं। श्रीरुक्मिणीको कृष्णप्रिया राधिकाजीके दर्शनकी सदा लालसा बनी रहती थी। यह लालसा अब पूर्णताको प्राप्त हो रही

थी। श्रीरुक्मिणी एवं सत्यभामा, मित्रविन्दा, जाम्बवती, कालिन्दी आदि पटरानियाँ श्रीराधाको अपने महलोंमें ले आयीं। श्रीराधाके स्वागत, देख-भालका सारा कार्य श्रीरुक्मिणीजी बड़े मनोयोगसे कर रही थीं। आसन, अशन, शय्या, विश्राममें कोई त्रुटि न रहने देती थीं। इसके साथ वे पति-परिचर्यामें भी कोई कसर नहीं रहने देती थीं।

विश्राम करते समय श्रीरुक्मिणीजी श्रीकृष्णके पैर दबा रही थीं कि श्रीकृष्णके पैरोंमें उन्हें छाले दिखे, वे आश्चर्यमें पड़ गयीं। बहुत अनुरोध-अनुनय किया, तब श्रीकृष्णने रहस्योद्घाटन करते हुए बतलाया—

श्रीराधिकाया हृदयारविन्दे
पादारविन्दं हि विराजते मे।
अहर्निशं प्रश्रयपाशबद्धं
लवं लवार्धं न चलत्यतीव॥
अद्योष्णदुग्धप्रतिपानतोऽङ्घ्रा-
वुच्छालकास्ते मम प्रोच्छलन्ति।
मन्दोष्णमेवं हि न दत्तमस्यै
युष्माभिरुष्णं तु पयः प्रदत्तम्॥

श्रीराधिकाजीके हृदयकमलमें मेरे चरणकमल सदा विराजते रहते हैं। हे रुक्मिणीजी! आज आपने उन्हें उष्ण दूध पिला दिया था। अतः उष्णपयस्तापसे मेरे चरणोंमें ये फफोले पड़ गये हैं। अब उन्हें अल्प उष्ण दुग्ध ही दिया करो। श्रीरुक्मिणी आदि समस्त पटरानियाँ श्रीराधाजीकी भक्तिसे प्रभावित हो गयीं।

सब भक्तों विशेषकर अपनी परमप्रिया पटरानियों तथा व्रजगोपिकाओंकी आत्मिक परीक्षा लेनेके लिये प्रभु श्रीकृष्णने रुग्णताका बहाना किया। अनेक चिकित्सोपचारके पश्चात् भी रोगशमन नहीं हुआ। पीड़ा बढ़ती ही गयी। रोगका तो चिकित्सासे उपचार सम्भव है। पर रोगके बहानेका क्या उपचार! सभी चिन्तित थे, तब प्रभुने नारदजीसे कहा—मेरा रोग सामान्य औषधियोंसे ठीक होनेवाला नहीं। मुझे यदि मेरे परम भक्त तथा आत्मीय प्रेम रखनेवालेकी चरणधूलि मिल जाय तो रोगका शमन सम्भव है। नारदने रुक्मिणी आदि समस्त पटरानियों एवं अनेक भक्तोंसे अपनी चरणधूलि भगवान्‌को देनेके लिये कहा, पर कोई तैयार नहीं। अपने प्रेष्ठको, आराध्यको हम अपनी चरणधूलि कैसे दें? कोई भी तैयार नहीं हुआ। अन्तमें श्रीनारदजी ब्रजमें गये। वहाँ गोपियों विशेषकर राधाजीसे निवेदन किया तो श्रीराधाजी बोलीं—यदि मेरी चरणधूलिसे मेरे प्रेष्ठके कष्टका निवारण होता हो—उन्हें सुखप्राप्ति हो तो एक बार नहीं हजार बार मैं अपनी चरणधूलि देनेको तैयार हूँ। चाहे मुझे कितने ही नरकोंमें जाना पड़े। ऋषिवर, ले जाइये मेरी चरणधूलि। कीजिये मेरे प्रियतमका कष्टनिवारण। नरकको घोर पीड़ाकी अपेक्षा मेरे प्रियतमकी सुखप्राप्ति मुझे सर्वथा मान्य है।

इस प्रकार श्रीराधाकी अनन्य निष्ठा एवं **'तत्सुखे सुखित्वम्'** का भाव प्रकट होनेसे सभी श्रीराधाको धन्य-धन्य कहने लगे।

अन्तमें तत्सुखसुखिया श्रीराधाका एक प्रसंग निवेदनकर बात पूर्ण की जाती है—

यह प्रसंग श्रीगीतावाटिकामें विराजमान श्रीराधाबाबाने अपने प्रियजनोंसे कहा था। अन्यत्र दुर्लभ है।

श्रीराधाजी अपने अन्तःपुरमें पालित शुकसारिकाओंको श्रीकृष्णका नाम उच्चारित कराती थीं। इस प्रकार अपने प्रियतमका नाम लेकर स्वयंको धन्य करती थीं और शुकसारिकाओंसे भी प्रभुनाम उच्चारण कराती थीं। यही दैनिक क्रम था। कुछ दिनों पश्चात् श्रीराधाने श्रीकृष्णके स्थानपर स्वयं अपना नाम 'बोलो श्रीराधे', कहलवाना प्रारम्भ किया। लोगोंने आलोचना की। कोई कहता श्रीराधा अपना नाम कहलवाकर अपनेको श्रीकृष्णसे श्रेष्ठ मानती हैं क्या? श्रीराधाकी आलोचना होने लगी, पर श्रीराधाने स्वयं अपना नाम कहलवाना स्थगित नहीं किया।

बड़ी तन्मयतासे श्रीराधे-राधे कहलवाती रहीं। पूछनेपर उसका प्रत्युत्तर भी नहीं देती थीं। अन्तमें उन्होंने अपनी अन्तरङ्ग सखियोंको बताया कि श्रीकृष्णके नामोच्चारण करानेसे मुझे आत्मिक आनन्द मिलता था, किंतु श्रीराधेके नामसे मेरे प्रियतमको आनन्द आता है। अतः जिसमें मेरे प्रियतमका सुख निहित हो, वही मुझे प्रिय है। अब चाहे लोग मेरी निन्दा करें या मुझे बुरा-भला कहें।

श्रीराधाका तत्सुखसुखिया-भाव अनन्य था; क्योंकि वे स्वसुखवाञ्छालेशविरहित श्रीकृष्णसुखैकतात्पर्यरूपा थीं।

साधकोंके प्रति—

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क पृ०-सं० ७५९ से आगे]

हम जी रहे हैं—यह धारणा सत्य नहीं है। सत्य तो यह है कि हम मर रहे हैं। जितने वर्ष चले गये, उतने हम मर गये। हम निरन्तर मर रहे हैं, जीवनसे दूर जा रहे हैं, पर वहम होता है कि हम जी रहे हैं।

यह संसार 'मृत्युसंसारसागर' है। इसमें हर चीज मर रही है। इसलिये सावधान हो जाओ। सिवाय भगवान्‌के कोई आपकी रक्षा करनेवाला नहीं है। जो सम्पूर्ण दोषोंका खजाना है, वह कलियुग बड़ी तेजीसे आ रहा है। अतः निरन्तर नामजप करते रहें। यह नामरूपी धन आप निरन्तर संग्रह करते रहें। जीवनका कोई भरोसा नहीं है। मरना निश्चित है। सब चीजें महँगी हो रही हैं। भगवान्‌का भजन भी महँगा हो रहा है! मृत्युका कोई समय निश्चित नहीं है, इसलिये हर समय भजन करते रहो—'**सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर**' (गीता ८।७)। हर समय भजन करना बीमा है। बीमा कराकर निश्चिन्त हो जाओ। भगवान् शंकरके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं है, फिर भी वे माँगते हैं—

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥

(मानस, उत्तर० १४ क)

× × × ×

जैसे वियोग नित्य है, ऐसे ही अक्रियता भी नित्य है। प्रत्येक साधनके अन्तमें अक्रिय-अवस्था आती है। भगवान्‌के चरणोंमें स्थित होकर कुछ भी चिन्तन न करें, निर्विकल्प हो जायँ तो ठेठ भगवान्‌के चरणोंमें पहुँच गये, कुछ करना शेष नहीं रहा! भगवान्‌के चरण कहाँ नहीं हैं? सब जगह भगवान्‌के चरण हैं—'**सर्वतः पाणिपादम्**' (गीता १३।१३)। स्याहीमें कौन-सी लिपि नहीं है? सोनेमें कौन-सा गहना नहीं है? पत्थरमें कौन-सी मूर्ति नहीं है? जहाँ निश्चय करो, वहीं भगवान् प्रकट हो जाते हैं। प्रह्लादजीके लिये वे खम्भेसे प्रकट हो गये! परमात्मा 'मैं-पनसे भी नजदीक हैं। उनके शरण हो जायँ। जहाँ शरण हुए, वहीं भगवान् हैं।'

× × × ×

नेत्रों (इन्द्रियों)-की दृष्टि सीमित है, उनसे बुद्धिकी दृष्टि तेज है और उससे भी विवेकदृष्टि तेज है। विवेकदृष्टिसे मनुष्य बहुत दूरतक देख सकता है।

कानोंसे लौकिक और पारमार्थिक सभी विषयोंका ज्ञान हो सकता है। इसलिये 'श्रवण'की मुख्यता है। शास्त्रों और संतोंसे सुनकर ही हम मानते हैं कि 'परमात्मा' हैं। परंतु शास्त्रों और संतोंमें श्रद्धा होगी, तभी मानेंगे। परमात्मा माननेका विषय है। आजकल जिनसे पतन, बन्धन हो, उनको तो मानते हैं, पर जिनसे कल्याण हो, उनको नहीं मानते, उनसे परहेज करते हैं!

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंके भाव और अभावका अनुभव सबको होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता—यह आध्यात्मिक विषय है। अपना होनापन निरन्तर मौजूद है। इस आध्यात्मिक विषयको ठीक जान जायँ तो दुःख, अभाव सब मिट जाते हैं। इस विषयको हम कानोंसे सुनकर जान सकते हैं। जो किसी इन्द्रियका विषय नहीं है, उस आत्माको कानोंसे सुनकर जान सकते हैं। इसलिये सत्सङ्ग सुननेकी बड़ी महिमा है। आत्मा जिसका अंश है, वह परमात्मा है।

अब परमात्मज्ञान कहते हैं। कोई ईश्वरको मानता है, कोई नहीं मानता। अगर मूलमें ईश्वर नहीं है तो ईश्वर माननेवाले झूठे हुए, पर उनका नुकसान क्या हुआ? अगर ईश्वर है तो ईश्वरको न माननेवाला रीता रह जायगा! अतः ईश्वरको न माननेवालेकी अपेक्षा माननेवाला लाभमें रहता है। ईश्वरको माननेवालेके हृदयमें हलचल नहीं रहती।

× × × ×

अपने लिये करनेसे मनुष्य कभी कृतकृत्य नहीं होता। निष्कामभावसे दूसरोंके हितके लिये सब कर्म

करनेसे वह कृतकृत्य हो जाता है। अपने-आपको जाननेसे वह ज्ञात-ज्ञातव्य हो जाता है। परमात्माके मिलनेसे भी प्राप्त-प्राप्तव्यता बाकी रहती है; क्योंकि प्रेम बाकी रहा! ज्ञान होनेसे तो अज्ञान निवृत्त होता है, नया कुछ नहीं मिलता, पर प्रेममें नयी चीज मिलती है। वह प्रेम निरन्तर बढ़ता रहता है, उसका कभी अन्त नहीं आता। इस प्रेमके भूखे भगवान् भी हैं और भक्त भी।

ज्ञानमें तो दुःख, सन्ताप आदि मिट गये, पर मिला क्या? परंतु भक्तिमें प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम मिलता है। प्रेममें 'और मिले, और मिले'—यह भूख निरन्तर बढ़ती ही रहती है। प्रेममें एक रस होता है, जिसकी कभी पूर्ति नहीं होती। जैसे, सत्सङ्ग करते-करते तृप्ति नहीं होती। सुननेमें एक रस, आनन्द आता है, जिसकी पूर्ति नहीं होती। अर्जुन कहते हैं कि आपके अमृतमय वचन सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है—**'भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्'** (गीता १०। १८)। परीक्षित् भी कहते हैं कि सुननेसे तृप्ति नहीं होती, भूख-प्यास भूल गया! तक्षकके काटनेकी बातकी तरफ भी ख्याल नहीं है! महाराज पृथु भी सुननेके लिये हजार कान माँगते हैं। इसका नाम प्रेम है। न पेट भरता है, न वस्तु समाप्त होती है। राम-राम करना इतना प्रिय लगता है कि छूटता ही नहीं। प्रेमके विलक्षण रसका कोई पारावार नहीं है। रस, रुचि बढ़ती ही रहती है।

× × × ×

मनुष्यके पास एक बहुत विलक्षण धन है, जो सबको बराबर मिला हुआ है। यह धन है—मानवजीवनका समय। यह धन भगवान्की अहैतुकी कृपासे मिला है, अपने पुरुषार्थसे नहीं। इस धनसे हम बहुत चीजोंका, विद्याओंका, कलाओंका सम्पादन कर सकते हैं। समयसे सब कुछ खरीदा जा सकता है। समय खर्च करके मनुष्य बुद्धिमान्, बलवान् बन सकता है। देवलोकोंमें, ब्रह्मलोकमें जा सकता है। तत्त्वज्ञान, भक्ति प्राप्त कर सकता है। बात समयके सदुपयोग-दुरुपयोगकी है। नरकोंकी प्राप्तिके लिये भी समय खर्च करना पड़ता है—***'नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी'***। बीमारीके सदुपयोगसे भी परमात्माकी प्राप्ति कर सकते हैं। बीमारी भगवान्की दी हुई शुद्ध तपस्या है। उसमें एक आनन्द आता है। ऐसे तपसे बुद्धि भी विकसित होती है।

प्रत्येक परिस्थितिमें हमारी दृष्टि भगवान्पर रहनी चाहिये। विपरीत-से-विपरीत परिस्थितिमें भी भगवान्की कृपा रहती है। जो प्रतिकूल परिस्थितिमें रोते हैं, वे बालक हैं, बेसमझ हैं। माँ बालकको नहलाती है तो वह रोता है, परंतु बालकके रोनेकी परवाह न करके माँ उसको नहलाकर, नये कपड़े पहनाकर गोदीमें ले लेती है। गोदीमें लेनेपर माँ और बालक—दोनोंको आनन्द होता है। कोई कष्ट आये तो युधिष्ठिरको, द्रौपदीको याद करो। भगवान् रामको, राजा नलको याद करो। उनपर भी कितना कष्ट आया, पर वे अपने धर्मसे विचलित नहीं हुए।

× × × ×

यह संसार पहले भी नहीं था, पीछे भी नहीं रहेगा। सब शहर पहले भी जंगल थे, पीछे भी जंगल हो जायँगे। उत्पत्ति-विनाशका प्रवाह बह रहा है। 'है' की सत्तासे ही यह 'नहीं' भी 'है' की तरह दीखता है। है तो परमात्मा, पर दीखता है संसार। जैसे, रज्जु सर्पकी तरह और अभ्रक चाँदीकी तरह दीखता है।

भगवान्को याद करना और सेवा करना—इन दोके बिना मनुष्य नहीं है, पशु है।

× × × ×

मनुष्यशरीरको अधम भी बताया है और उत्तम भी—***'पंच रचित अति अधम सरीरा'*** (मानस, कि० ११। २), ***'नर तन सम नहिं कवनिउ देही'*** (मानस, उत्तर० १२१। ५)। मनुष्यशरीरकी विशेषता विवेकको लेकर है। विवेकके सदुपयोगकी महिमा है। विवेकका सदुपयोग है—अपने जाने हुए असत्का त्याग करना। असत्को जानते हैं, पर उसका त्याग नहीं करते—यह बड़ा भारी अपराध है, गलती है। त्यागका अर्थ है—असत्के आश्रय, भरोसा, विश्वासका त्याग। हमारा लक्ष्य असत् नहीं होना चाहिये। असत्का त्याग होनेपर ज्ञान, भक्ति आदि सबकी सिद्धि स्वतः हो जायगी।

× × × ×

(क्रमशः)

श्रीनाथद्वाराका जन्माष्टमी महामहोत्सव

(श्रीहरिनारायणजी नीमा, एम०ए०, शुद्धाद्वैतविशारद)

वीरभूमि राजस्थानके महिमामण्डिततीर्थ श्रीनाथद्वारामें विराजित सौन्दर्य-माधुर्य-रससार-समुद्भूत प्रभु श्रीनाथजीकी राग-भोग-शृङ्गारसमन्वित नित्य सेवाके अतिरिक्त नित्योत्सव, पर्वोत्सव, पार्वणिकोत्सव, महोत्सव और महामहोत्सव मनानेकी अपनी विशिष्ट भावपूर्ण परम्परा है।

भाद्रपद कृष्ण अष्टमी व्रजेश्वर भगवान् श्रीनाथजीका प्राकट्य महामहोत्सव है। इस दिन प्रातः ब्राह्ममुहूर्तमें भगवान्‌को जगानेके लिये शङ्खनाद होता है, मङ्गलादर्शन, नित्य सेवा क्रमानुसार होकर श्रीजीका पञ्चामृतस्नान होता है। सर्वप्रथम संकल्प होता है, तदनन्तर प्रभुश्रीको कुङ्कुमसे तिलक किया जाता है, अक्षत लगाया जाता है। निजमन्दिरसे बाहरवाले मणिकोटामें कीर्तनकार देवगन्धार और बिलावल रागमें बधाईगान गाते हैं। झांझ, मृदंग, सारंगी आदि वाद्योंसे संगत होती है। व्रजभाषाके वाल्मीकि, पुष्टिमार्गके जहाज श्रीसूरदासजीके सवा लक्ष कीर्तन पदोंका प्रथम पद *'ब्रज भयो .... जब यह बात सुनी। सुनि आनंदे सब लोग गोकुल गणित गुनी'* गाया जाता है, फिर क्रमसे *'आज गृहनंद पहरके आनन्द'* और *'नैन भर देखो नंद कुमार'* पदोंका गान होता है।

पार्श्वमें शङ्खध्वनि, झालर, घण्टा, नगारा और मादल बजते हैं। पञ्चामृतस्नान प्रारम्भ करनेके पूर्व श्रीजीके चरणोंमें तुलसी समर्पित की जाती है। दूध, दही, घृत, शक्करका बूरा और शहद—इन पाँच वस्तुओंसे शङ्खद्वारा श्रीजीके स्नान होते हैं। वैष्णव भक्तोंकी अपार भीड़ यमुनाजीकी तरह हिलोरें लेने लगती है।

पञ्चामृतस्नानके पश्चात् श्रीजीको भारी शृङ्गार धराया जाता है। केसरिया रंगका चाकदार बागा, लाल सुथन, केशरी कुल्हे जिसपर पाँच मयूरपक्षका जोड़, माणिक, मोती, स्वर्णजटित बहुमूल्य आभूषण श्रीजीको धराये जाते हैं। श्रीजीकी पीठिका कन्दरापर स्वर्णजटित चौखटेके ऊपर नृत्यरत मयूर हैं, जिन्हें देखते ही भक्तोंके मनमयूर भी थिरकने लगते हैं। अन्तमें पुष्पोंकी मालाएँ जो वल्लभसम्प्रदायकी अपनी विशेष शैली है, श्रीजीको पहिनायी जाती हैं। एक खास बात, प्रभुका शृङ्गार तबतक पूर्ण नहीं होता, जबतक ब्रजकी लतासे उत्पन्न गुञ्जाकी माला उन्हें धरायी नहीं जाय। गुञ्जामाला अनिवार्यरूपसे प्रभु पहनते ही हैं, श्रीजीका ब्रज-संस्कृतिके अनुरूप शृङ्गार होता है। शृङ्गारदर्शन खुलते हैं—भक्तजन उस रूप-सुधारस-माधुरीको अपनी आँखोंसे भर-भर कर पीते हैं, समूचा मन्दिर-परिसर अद्भुत आनन्दकी वर्षासे तरबतर हो जाता है। सभी दरवाजोंकी देहली हल्दीसे रँगी जाती है, अशोक पल्लव और कदली-स्तम्भसे द्वार सजाये जाते हैं, वन्दनवार बाँधी जाती हैं, सुहागिनें मङ्गलगीत गाती हैं।

शृङ्गारदर्शनमें प्रभु श्रीनाथजीका तिलकोत्सव होता है, कीर्तनियाँ राग सारंगमें—*'आज बधाई को दिन नीको। नंद घरनी जसुमति जायो है लाल भापती जी को।'* पदगान करते हैं।

आरती होती है, लालाको नजर न लग जाय इस हेतु से राई-लोन उतारे जाते हैं, न्योछावर की जाती है। विप्रवर्ग पत्रिका-वाचन करते हैं। आजके दिन भोगमें भगवान् विशेषरूपसे गुड़, तिल और दूध आरोगते हैं। राजभोगमें विविध अनगिनत सामग्री भगवान्‌को भोग लगायी जाती है, यमुना जलकी झारी भरी जाती है, ताम्बूल (बीड़ा) आरोगाये जाते हैं।

सायंकालीन सेवाके क्रममें उत्थापन होते हैं। 'छटी' मांडी जाती है। यशोदाजीके लालाकी कुशलताके लिये षष्ठी देवी पूजी जाती हैं—

षष्ठिदेवि नमस्तुभ्यं सूतिकागृहशालिनि।
पूजिता परया भक्त्या दीर्घमायुः प्रयच्छ मे॥

मन्त्रोक्त भावना इस पूजामें निहित है। कितनी सुकुमार भावना है इस सेवामार्गमें। विश्वको पालनेवाला पालनेमें यहाँ झूलता है। सायंकालीन सेवाके क्रममें भोग, संध्या-आरती और शयन-दर्शन होते हैं, फिर टेरा आ जाता है। अंदर विविध क्रम खिलौने आदिके होते रहते हैं, बाहर कीर्तनकार जन्म बधाईके अष्टछाप रचित १९ पदोंका गान करते रहते हैं और लगभग ११:३० पर मध्यरात्रिके समय श्रीजीकी गोदके ठाकुर श्रीबालकृष्णलालके

पञ्चामृत स्नानकी तैयारी शुरू होती है और कुछ ही समय पश्चात् जन्मके दर्शन खुलते हैं। पञ्चामृत-स्नान श्रीजीके पञ्चामृतकी भाँति गोदके ठाकुरजीके होते हैं। सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द दृष्टिगोचर होता है और उस शोभाका क्या कहना जो निज मन्दिरमें विराजमान हैं, कीर्तनकार गाते हैं—

सोभा-सिन्धु न अंत रही री।
नंद-भवन भरि पूरि उमँगि चलि, ब्रज की वीथिनि फिरति बही री॥

गोवर्धन चौकमें मन्दिर मण्डलके वाद्योंद्वारा मधुर ध्वनिमें भक्तिगीत बजाये जाते हैं। नगारखानेमें नगारे बजते हैं और तोपें चलती हैं। ताकि विश्वको मालूम हो जाय कि विश्वविमोहनका ब्रज-गोकुलमें प्राकट्य हो गया है।

प्रभुजीके स्नानोपरान्त तिलक और केशरके कमल-पत्र कपोलोंपर चित्रित किये जाते हैं। महाभोग आता है, जिसमें सखड़ी, अनसखड़ी, दूधधर और शताधिक प्रकारकी सामग्री होती है। पंजेरी आजकी मुख्य सामग्री होती है। लगभग पिछली रात्रिको चार बजे भोग हटाये जाते हैं।

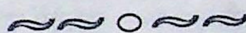
भोग हटानेके बाद प्रभु ताम्बूल आरोगते हैं, आरती होती है और सुन्दर पलनेमें श्रीनवनीतप्रिय प्रभु झूलनेको पधारते हैं। ये वे ही नवनीतप्रिय प्रभु हैं जिनके लिये परमभागवतोत्तम श्रीसूरने गाया था—

सोभित कर नवनीत लिऐं।
घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किऐं॥
चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन तिलक दिऐं।
लट लटकनि मनौ मत्त मधुप गन माधुरि मधुहि पिऐं॥
कठुला कंठ, वज्र केहरि नख, राजत रुचिर हिऐं।
धन्य 'सूर' एकौ पल यहि सुख, का सत कल्प जिऐं॥

और स्वयं महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणने कहा है—

जानन्ति परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम्।
तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधाः॥

समूचा नगर कृष्णजन्मकी आनन्द बधाईमें मस्त होकर गाता है—*'नंद घर आनंद भयो जै कन्हैयालालकी।'*



जीवन कैसे जीयें?

(श्रीकान्तिभाईजी पटेल)

एक दन्तकथामें यह सुना जाता है कि जब राजा धृतराष्ट्रके सौ पुत्र एक ही साथ मृत्युको प्राप्त हुए, तब राजाने भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा कि जीवनमें मैंने कोई ऐसा भयङ्कर पाप नहीं किया, जिसके फलस्वरूप मेरे सौ पुत्र एक साथ ही मर गये। इसपर भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें उनके पिछले जन्मोंको देखनेकी दिव्य दृष्टि प्रदान की। तब राजाने देखा कि लगभग पचास जन्म पूर्व वे एक बहेलिया थे और वृक्षपर बैठे पक्षियोंको पकड़नेके लिये उन्होंने जलता हुआ जाल वृक्षपर फेंका था, जिससे बचनेके लिये कुछ पक्षी तो उड़ गये, किंतु वे जलते हुए जालकी गर्मीसे अन्धे हो गये और बाकी सौ पक्षी जलकर खाक हो गये। राजाका वह कर्म पचास जन्मोंतक उनके सञ्चित कर्मोंमें बिना पके पड़ा रहा और जब राजाके पुण्य समाप्त हो गये, तब वह सञ्चित कर्म फल देनेके लिये तत्पर हुआ, जिससे राजाको इस जीवनमें दृष्टिहीन होकर अपने सौ पुत्रोंके निधनका मर्मान्तक आघात सहना पड़ा। विधिके विधानमें अँधेर भी नहीं है और देर भी नहीं है।

कभी-कभी लोग निराशाके कारण यह सोचने लगते हैं कि पापी लोग मजेमें जी रहे हैं, उनके पास अपार सम्पत्ति एवं भौतिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं, किंतु न्याय, नीति और धर्मसे पवित्र जीवन जीनेवाले दुःखी दिखायी देते हैं। तब ईश्वरमें श्रद्धा डिगने लगती है और लगता है कि विधिके विधानमें अँधेर है, किंतु यथार्थमें ऐसी बात है नहीं। दुनियाके प्रत्येक नियम या कानूनकी धाराओंमें कोई-न कोई अपवाद होता है, किंतु कर्मके फलभोगके नियममें कोई भी अपवाद नहीं है। मनुजीने इस सन्दर्भमें बताया है कि मनुष्य अधर्मकर पहले उन्नति करता है, बादमें कल्याण देखता है, फिर शत्रुओंपर विजय पाता है और कुछ समय

बाद समूल नष्ट हो जाता है—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति॥

(मनु० ४। १७४)

इसीलिये धर्म-सञ्चयमें तथा सदाचरणमें कष्ट होते हुए भी अधर्ममें मन कभी न लगाये—

'न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।'

(मनु० ४। १७१)

यह मानव-जीवन बड़ा दुर्लभ है। अपने जीवनका कल्याण केवल मानव-जीवनसे ही सम्भव है। अतः हमें इसे व्यर्थ गँवाना नहीं चाहिये। मनुष्य प्रायः सारा जीवन धन, सत्ता या यशको प्राप्त करनेमें बिता देता है, किंतु इसमेंसे कोई भी वस्तु साथमें जानेवाली नहीं है। जायेगा केवल किये गये कर्मोंका फल; इसीलिये शास्त्रोंका उद्घोष है कि मृत शरीरको काष्ठ और ढेलेकी तरह धरतीपर छोड़कर बान्धव लोग मुँह फेरकर चले जाते हैं, केवल धर्म ही उसके साथ जाता है—

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥

इसी प्रकार अन्यत्र भी बताया गया है कि स्त्री-पुत्र, धन-परिजन, भाई-बन्धु, प्रिय सुहृद्, माता-पिता तथा भ्राता एवं श्वशुरकुलके लोग और भृत्यवर्ग, ऐश्वर्य, धन, विद्या, रूप, उज्ज्वल भवन, यौवन तथा युवतियोंका समुदाय—ये सभी मृत्युकालमें व्यर्थ सिद्ध होते हैं। उस समय एकमात्र धर्म ही सहायक होता है—

दाराः पुत्रा धनं वा परिजनसहितो बन्धुवर्गः प्रियो वा
माता भ्राता पिता वा श्वशुरकुलजना भृत्य ऐश्वर्यवित्ते।
विद्या रूपं विमलभवनं यौवनं यौवतं वा
सर्वं व्यर्थं मरणसमये धर्म एकः सहायः॥

अतः धन, सत्ता आदि सांसारिक वस्तुओंको प्राप्त करनेके लिये व्यक्ति जो उल्टे-सीधे कर्म करता है, उसका फल उसे भोगना ही पड़ता है। अच्छे कर्मोंका अच्छा और बुरे कर्मोंका बुरा फल तो भोगना ही पड़ेगा। इसलिये जीवनमें मनुष्यको निरन्तर सत्कर्म करते रहना चाहिये।

निर्गुण-निराकार ब्रह्म भी जब सगुण-साकार होकर देह धारण करके पृथ्वीपर अवतरित होते हैं तो उन्हें भी कर्मके नियमोंका कठोरतासे पालन करना पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने रामायणमें कहा है—*'करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥'*

कर्मफल-भोगके सम्बन्धमें यहाँ एक लौकिक-दृष्टान्त प्रस्तुत है—

एक सेशन जज थे, सुविज्ञ तथा कर्मके नियमोंमें अडिग आस्था रखनेवाले थे। एक दिन प्रातःकाल वे धुँधलके नदीके किनारे टहलते हुए लघुशंकाके लिये घनी झाड़ीकी ओटमें बैठे ही थे कि इतनेमें एक आदमी दौड़ता हुआ आया। उसके पीछे कोई दूसरा आदमी आया और उसने पहले वाले आदमीकी पीठमें छुरा भोंक दिया। वह गिर पड़ा और उसकी तत्काल मृत्यु हो गयी। खूनी भाग गया। उसका चेहरा सेशन जजने भलीभाँति पहचान लिया।

सेशन जज घर आये और इस घटनाका उन्होंने किसीसे उल्लेख नहीं किया; क्योंकि खूनका केस अन्तमें उन्हींकी अदालतमें आना था। फिर पुलिसकी तफ्तीश हुई। छः महीनेमें सम्पूर्ण जाँच पूरी हो गयी। खूनका मुकदमा दाखिल हुआ। जज साहबने देखा कि जिस खूनीको उन्होंने स्वयं अपनी आँखोंसे खून करते देखा था, उसके बदलेमें किसी दूसरे व्यक्तिको आरोपी बनाकर प्रस्तुत किया गया है, पुलिसने अकाट्य प्रमाण दिया और बनावटी आरोपी खूनी साबित हुआ। जज साहब जानते थे कि यह आदमी खूनी नहीं है, किंतु न्यायाधीशको प्रमाणोंके आधारपर फैसला करना होता है और अकाट्य प्रमाणोंके कारण आरोपीको फाँसीकी सजा भी देनी पड़ सकती है। जज साहबको लग रहा था कि असली खूनी बच जायगा और किसी निर्दोषको फाँसी हो जायगी। इसलिये खूनकी सजाका आदेश सुनानेसे पहले सेशन जजने उस बनावटी आरोपीको अपने चैम्बरमें एकान्तमें बुलाया।

बनावटी आरोपी रो पड़ा और कहने लगा कि मैं बिलकुल निर्दोष हूँ, मैंने खून नहीं किया और बिना वजह मारा जा रहा हूँ; क्योंकि असली खूनी न मिलनेकी स्थितिमें लगता है मेरे पहलेके कर्मोंके आधारपर मुझे पकड़कर मजबूत प्रमाण जुटा लिये गये हैं और कोर्टकी दृष्टिमें

कानूनके अनुसार मैं खूनी साबित हो रहा हूँ।

सेशन जजने कहा कि मैं जानता हूँ कि तुम खूनी नहीं हो, किंतु कानून प्रमाणोंके आधारपर चलता है और सारे प्रमाण तुम्हारे विरुद्ध होनेके कारण मैं तुम्हें कानूनन खूनी करार देकर फाँसीकी सजा सुनाऊँगा तथापि मैं तुमसे एक सवाल पूछता हूँ, उसका तुम बिलकुल सच्चा जवाब देना। अब मरते समय जरा भी झूठ मत बोलना। भूतकालमें तुमने कभी किसीका खून किया था? उसने रुँधे गलेसे ईश्वरको साक्षी मानकर सच-सच कह दिया कि भूतकालमें मैंने दो खून किये थे। उनका मुकदमा चला था, किंतु मैंने बहुत होशियार वकीलसे पैरवी करायी थी और खूब पैसे खर्च किये थे। इसलिये मैं दोनों मुकदमोंमें बिलकुल निर्दोष छूट गया, किंतु इस मुकदमेमें मैं वास्तवमें निर्दोष होते हुए मारा जा रहा हूँ।

सेशन जजको जवाब मिल गया था कि ईश्वरके कर्मके नियमोंमें कहीं भी गफलत नहीं है। पहले दो खूनके समय इस आरोपीके पुण्य प्रबल थे, इसलिये उस खूनका फल भोगनेमें विलम्ब हुआ और जब उसके जमा पुण्य समाप्त हो गये तो उसे पिछले कर्मोंकी सजा मिल रही है। इस नियमके अनुसार दण्डकी प्रक्रिया पूरी की गयी है।

इसलिये कोई भी कर्म करनेसे पहले उसके परिणामपर बार-बार विचार करना चाहिये और तभी कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये। कर्म हो जानेके बाद उसके फलसे बचनेके लिये व्यर्थका प्रयत्न नहीं करना चाहिये। कर्मका फल जब पककर और प्रारब्ध बनकर, अनुकूल किंवा प्रतिकूल बनकर सामने आये, तब उसे साहससे प्रसन्नतापूर्वक भोग लेना चाहिये; क्योंकि कर्म करनेमें ही अधिकार है फलमें नहीं—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'**

यह मानव-शरीर मोक्ष प्राप्त करनेके लिये ही प्राप्त हुआ है। मानव-शरीर धारण करके भी यदि मोक्ष प्राप्त न हो सके तो चौरासी लाख योनिमें फिरसे भटकनेकी दशा आयेगी। मनुष्यमात्र देहके बन्धनसे मुक्त होकर परब्रह्ममें लीन होनेका निश्चय करे तो इसके लिये वह समर्थ है और स्वतन्त्र है; क्योंकि परात्पर ब्रह्मका ही वह अंश है और उसमें लीन होनेके लिये—मोक्ष प्राप्त करनेके लिये ही उसका सृजन हुआ है।

किंतु जबतक वह इस जन्मका समस्त प्रारब्ध न भोग ले एवं पिछले जन्म-जन्मान्तरोंके जमा हुए सञ्चित कर्मके ढेरको इस जीवनमें ही साफ न कर ले—भस्म न कर ले, तबतक उसे बारम्बार अनन्तकालतक अनेक जन्म—अनेक देह धारण करने ही पड़ेंगे और तबतक मोक्ष नहीं मिलेगा।

तो क्या घोर पापियोंका भी उद्धार हो सके, ऐसा कोई उपाय नहीं है? अवश्य है और अत्यन्त ठोस और सरल उपाय है। ईश्वर पापियोंके लिये भी कितना दयालु है। ईश्वरने गीतामें स्पष्ट कहा है कि—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता ९।३०-३१, १२।७)

बड़े-से-बड़ा पापी भी यदि मेरे सामने सच्चे अन्तःकरणसे पश्चात्ताप करता हुआ—छोटे बालकके समान आक्रन्दन करता हुआ—अपने पापोंको याद करता हुआ विलाप करता है तो मैं इस संसार-सागरमें डूबती हुई उसकी जीवन-नैयाको पार लगा देता हूँ, उसका नाश नहीं होने देता। ऐसी शक्ति ईश्वरके सिवा दूसरा कौन दे सकता है!

प्रभुके सामने बैठकर अपने पापकर्मोंकी सूचीको सच्चे मनसे गहन पश्चात्तापके साथ अन्तःकरणसे विलाप करते हुए प्रतिदिन पढ़ें तो दयालु प्रभु उद्धार कर देंगे।

जिस तरह अपने पुण्यकर्मोंको यदि हम उजागर कर देते हैं तो वे तिरोहित हो जाते हैं, उसी तरह अपने पापकर्मोंको यदि हम प्रकट कर दें तो वे भी शिथिल हो जाते हैं। अनेक लोग पापकर्मोंका पश्चात्ताप करके उसके अशुभ फलसे मुक्त हुए हैं।

मृत्युको हरपल नजरके सामने रखकर कलुषित वृत्तियोंको त्यागकर शुद्ध अन्तःकरणसे एक ही तत्त्व पूरे विश्वमें व्याप्त है—ऐसा समझकर सर्वत्र आत्मदर्शन करें, लोगोंके आँसू पोंछें और उनका दुःख-दर्द दूर करें तो जीवन धन्य हो जायगा। लोक और परलोक दोनों सुधर जायँगे एवं मृत्युकी घड़ीमें परमात्मदर्शनका अभूतपूर्व आनन्द भी प्राप्त होगा।

~~~०~~~
~~~

रामकथाओंमें लोकविश्वास

(श्रीसुधीरजी निगम)

समाजमें प्रचलित मान्यताओं, परम्पराओं तथा विश्वासोंका कोई प्रत्यक्ष आधार नहीं दिखायी देनेपर भी यह तो निश्चित ही है कि वे संस्कृतिकी धरोहरके रूपमें सुरक्षित रहते हैं। साहित्य, विशेषकर काव्यमें इनके प्रयोगसे रचनाका रूप निखरता है, अर्थको स्पष्टता मिलती है और कृति लोकप्रिय होती है। ऐसे लोकविश्वासोंका गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने अपने 'श्रीरामचरितमानस' में और महाकवि श्रीवाल्मीकिने अपनी 'रामायण' में यथास्थान प्रयोग किया है।

लोकमें ऐसी मान्यता है कि अपने बच्चोंको माता-पिताकी भी नजर लग जाती है। इससे बचनेका उपाय बड़ा साधारण-सा है। श्रीरामचरितमानसमें आया है कि राम-भरत, लक्ष्मण-शत्रुघ्नकी श्याम और गौर शरीरवाली दो सुन्दर जोड़ियाँ राजा दशरथके आँगनमें खेल रही हैं। माताएँ हर्षविभोर हो उन्हें देख रही हैं। तभी उन्हें भय लगता है कि इन जोड़ियोंको कहीं हमारी ही नजर न लग जाय। अत: उन्हें देखते-देखते वे तृण (तिनका) तोड़ने लगती हैं, जिससे उनकी नजर न लगे—

स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी। निरखहिं छबि जननीं तृन तोरी॥

(रा०च०मा० १।१९८।५)

नजर लगनेकी आशंका माताओंतक ही सीमित नहीं रहती। प्रत्येक सद्भावीजन सौन्दर्यके दर्शन कर यह आशंका करता है कि कहीं उसकी ही नजर न लग जाय। दूल्हा जब सजता है तो उसकी छटा अनुपम होती है और फिर श्रीराम-जैसा दूल्हा हो तो छटा अद्भुत ही होगी। वे कुलदेवता (कोहबर)-के स्थानपर जानेके लिये सजे हैं—विभिन्न मणियोंसे अलंकृत मौर उनके सिरपर शोभायमान है, उनके वस्त्राभूषण और वे स्वयं इतने आकर्षक हैं कि बरबस चित्त चुराये ले रहे हैं। नगरकी स्त्रियाँ और देवबालाएँ उन्हें देखती हैं और यह सोचकर तिनके तोड़ने लगती हैं कि कहीं दूल्हेको उनकी ही नजर न लग जाय—

गाथे महामनि मौर मंजुल अंग सब चित चोरहीं।
पुर नारि सुर सुंदरीं बरहि बिलोकि सब तिन तोरहीं॥

(रा०च०मा० १।३२७ छन्द १)

किसी विशेष अवसरपर या विशेष स्थितिमें शरीरके अंगोंका फड़कना शुभ और अशुभ दोनों माना जाता है। स्त्रीका बायाँ अंग और पुरुषका दाहिना अंग फड़कना शुभ माना जाता है। राम-लक्ष्मण जनकपुरीमें हैं, धनुषयज्ञ होनेवाला है। वे वाटिकामें पुष्प चुनने गये हैं। सखियोंके साथ गौरीपूजाको आयी सीताके प्रथमदर्शन श्रीरामको होते हैं। उस अलौकिक सौन्दर्यको देखकर उनका स्वभावसे पवित्र मन चञ्चल हो उठता है और श्रीराम लक्ष्मणसे कहते हैं कि मैं नहीं जानता कि ऐसा क्यों हो रहा है, परंतु मेरा मङ्गलदायक (दाहिना) अंग फड़कने लगा है—*'फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता॥'*

सीता भी रामकी शोभा देखकर प्रेमके वशीभूत हो जाती हैं। वे गौरीपूजाके लिये आयी थीं। भगवती गौरीने सीताकी भावना समझकर उन्हें वरदान दे दिया कि सुन्दर साँवला वर उन्हें प्राप्त होगा। यह वर पाकर सीताको हर्ष हुआ और उनके बायें अंग फड़कने लगे—

जानि गौरि अनुकूल सिय हिय हरषु न जाइ कहि।
मंजुल मंगल मूल बाम अंग फरकन लगे॥

(रा०च०मा० १।२३६)

पशु-पक्षी तथा अन्य प्राणी भी शुभ-अशुभके द्योतक माने जाते हैं। 'श्रीरामचरितमानस' में वर्णित है कि पशु-पक्षी किस स्थितिमें शुभ होते हैं। नीलकण्ठ नामक पक्षीका तो दर्शन ही शुभ माना जाता है और यदि वह बायीं ओर होकर दाना चुग रहा हो तो अत्यन्त मङ्गलकारी होता है—

चारा चाषु बाम दिसि लेई। मनहुँ सकल मंगल कहि देई॥

(रा०च०मा० १।३०३।२)

कौआ प्रकृतिसे बुरा माना जाता है परंतु साफ-सुथरे खेतमें दायीं ओर बैठे होनेपर शुभ माना जाता है—*'दाहिन काग सुखेत सुहावा।'* वही कौआ गन्दे स्थानपर बैठा हुआ बोलता सुनायी दे तो अशुभ माना जाता है—*'रटहिं कुभाँति कुखेत करारा॥'* सफेद सिरवाली चील—छेमकरी किसी भी स्थिति या दशामें दिखायी देनेपर शुभ

मानी जाती है—*'छेमकरी कह छेम बिसेषी॥'* किंतु श्यामा नामक पक्षीका दर्शन उसी दशामें शुभ होता है जब वह बायीं ओर स्थित किसी हरे-भरे वृक्षपर बैठी हो—*'स्यामा बाम सुतरु पर देखी॥'*

नेवला अशुभ माने जानेवाले साँपका शत्रु होनेके कारण सर्वत्र और सब समय शुभ माना जाता है—*'नकुल दरसु सब काहूँ पावा॥'* लोमड़ी बार-बार दिखायी दे—*'लोवा फिरि फिरि दरसु दिखावा।'* हरिणोंकी टोलियाँ बायीं ओरसे घूमकर दाहिनी ओर आयें *'मृगमाला फिरि दाहिनि आई।'* और गौएँ बछड़ोंको दूध पिलाती हुई सामने खड़ी मिलें—*'सुरभी सनमुख सिसुहि पिआवा॥'* तो मङ्गल-ही-मङ्गल होता है। दही, मछली देखना शुभ माना जाता है—*'सनमुख आयउ दधि अरु मीना।'*

भोजन हमारे शरीरके लिये हितकारी हो, इस हेतु शास्त्रीय विधान है कि **'ॐ प्राणाय स्वाहा, ॐ अपानाय स्वाहा, ॐ व्यानाय स्वाहा, ॐ उदानाय स्वाहा, ॐ समानाय स्वाहा'**—इन पाँच मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए पहले पाँच ग्रास लेना चाहिये। राजा जनकके यहाँ भोजन करने बैठे सब लोग ऐसा ही करते हैं *'पंच कवल करि जेवन लागे।'* शास्त्रीय मान्यता है कि इस प्रक्रियासे भोजन मङ्गलकारी होता है।

किसी कार्यके लिये प्रस्थान करते समय किसीका छींक देना लोकमें आज भी अशुभ माना जाता है। तुलसीदासजी बताते हैं कि यदि छींक बायीं ओर हो तो शुभ शकुन होता है। सेनासहित भरत रामको मनाने जा रहे हैं। मार्गमें गुहका राज्य पड़ा। निषादराजने सोचा कि भरत रामपर आक्रमण करने जा रहे हैं, अतः उनका प्रतिरोध करनेके लिये उसने अपनी सेना एकत्र कर ली। तभी किसीने छींक दिया। सगुनियाने कहा कि छींक बायीं ओर होनेसे शुभ है, अतः विजय होगी—

एतना कहत छींक भई बाँए। कहेउ सगुनिअन्ह खेत सुहाए॥

महर्षि वाल्मीकिने भी रामायणमें लोकविश्वासका आश्रय लिया है। श्रीराम अयोध्याके राजमहलसे वन जानेके लिये निकल पड़ते हैं। उनके प्रेमके वशीभूत होकर राजा दशरथ भी पुरवासियोंके साथ उनके पीछे चलने लगते हैं। राजाके मन्त्री जानते हैं कि वे यदि अधिक दूरतक रामके साथ चले गये तो उन्हें लौटा पानेमें कठिनाई होगी। राजाका शरीर वैसे ही पसीनेसे भीगा हुआ था और वे विषादकी मूर्ति लग रहे थे। मन्त्री समझते थे कि इस समय कोई मन्त्रणा, कोई उपदेश काम नहीं करेगा। अतः लोकविश्वासका आश्रय लेते हुए वे कहते हैं—'राजन्! जिसके लिये यह इच्छा की जाय कि वह पुनः शीघ्र लौट आये, उसके पीछे दूरतक नहीं जाना चाहिये'—

'यमिच्छेत् पुनरायातं नैनं दूरमनुव्रजेत्।'

(वाल्मीकीय रामायण २।४०।५०)

किसीको विदा करते समय उसके अङ्ग स्पर्श करके उसके प्रति मूक सद्भावना, सदिच्छा और सम्मान प्रकट किया जाता है। सुमन्त्र श्रीरामको अयोध्याकी सीमातक ले आये। श्रीराम चाहते हैं कि सुमन्त्र अब लौट जायें और आगेकी यात्रा वे पैदल चलकर करें। तब दशरथनन्दन श्रीरामने सुमन्त्रको उत्तम दाहिने हाथसे स्पर्श करते हुए कहा कि वे शीघ्र महाराजके पास लौट जायँ—

'ततोऽब्रवीद् दाशरथिः सुमन्त्रं
स्पृशन् करेणोत्तमदक्षिणेन।'

(वाल्मीकीय रामायण २।५२।१३)

दुःखके दारुण क्षणोंमें आदमी आँसू गिराता है, मनस्तापके कारण कातर भावसे भू-लुण्ठित हो जाता है, परंतु ऐसी स्थितिमें लोकाचारके कारण वह अपना मुँह ढकना नहीं भूलता। भरत ननिहालसे आकर मृत पिताको देखते हैं तो रोते हुए पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं, परंतु ऐसे दुःखद क्षणोंमें भी वे अपने मुखको वस्त्रसे ढकना नहीं भूलते—

बाष्पमुत्सृज्य कण्ठेन स्वात्मना परिपीडितः।
प्रच्छाद्य वदनं श्रीमद् वस्त्रेण जयतां वरः॥

(वाल्मीकीय रामायण २।७२।२१)

इन लोकविश्वासोंको अन्धविश्वास कहकर कोई नकार दे, परंतु इनके भीतर आत्मानुशासन, आत्मसम्मान, परदुःखकातरता, परहित भावकी जो एक अव्यक्त अन्तर्धारा प्रवाहित होती है, उसके कारण लोकविश्वास हमारे सांस्कृतिक जीवनकी एक धरोहर बन जाते हैं।



योगदर्शनमें कर्मवाद

(डॉ० उमादेवी जोशी, रीडर)

'कर्म' शब्दके सामान्य अर्थकी चर्चा संस्कृतसाहित्यके ग्रन्थोंमें उपलब्ध है। **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'** (गीता २। ४७)—यह गीतावचन कर्म करनेकी अनुशंसा करता है। 'कृ' धातुसे मनिन् प्रत्ययनिष्पन्न 'कर्म' शब्दका अर्थ—करना, व्यापार तथा हलचल (क्रियाशीलता) है। इसी सामान्य अर्थके अनुसार आचार्य तिलककी दृष्टि (गीतारहस्य)-में खाना, पीना, खेलना, याग करना, मनन, ध्यान, हँसना, रोना आदि सभी क्रियाएँ कर्म हैं। गीता (५। ८)-में कहा है—

'पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥'

गीताके चतुर्थ अध्यायके १६वें श्लोकमें करणीय एवं अकरणीय कर्मोंका भी उल्लेख हुआ है—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

इन कर्म और अकर्मकी विवेचनाके प्रसंगमें कर्मवादका प्रादुर्भाव होता है अर्थात् कर्मविषयक सिद्धान्तोंका विमर्श किया जाता है। भारतीय दर्शनके परिप्रेक्ष्यमें 'वाद' शब्दके समावेशसे सिद्धान्तोंका ग्रहण होता है। जगत्‌की व्यवस्थाके मूलमें यही कर्म-सिद्धान्त कार्य कर रहा है। इसलिये भारतीय दर्शनमें कर्मवादको विशेष मान्यता मिली है। व्यक्ति जो कुछ कर्म करता है, उसका फल उसे अवश्य प्राप्त होता है। वर्तमानमें अनुभूयमान विषयोंके मूलमें पूर्वजन्मके कर्म हैं तथा वर्तमानकालिक कर्मोंके अनुसार हमारा भविष्य निर्धारित होता है—यह विचार कर्मवाद कहलाता है। भारतीय दर्शनमें कर्मवादकी अवधारणा व्यक्तिको सत्कर्म करनेके लिये अवसर प्रदान करती है।

यहाँ कर्मवादकी विवेचना योगदर्शनानुसार की जा रही है—

पातञ्जलयोगकी दृष्टिमें शुभाशुभ कर्मोंके अनुरूप चित्तमें विद्यमान रहनेवाले संस्कारोंको 'वासना' कहते हैं। वासनाओंकी उत्पत्ति अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश नामक क्लेशोंद्वारा होती है। इन क्लेशोंके विद्यमान रहनेपर व्यक्तिके द्वारा काम, लोभ, मोह तथा क्रोध करनेसे पापस्वरूप कर्माशय उत्पन्न होता है। इन कर्माशयोंके फल वर्तमान जन्ममें अथवा जन्मान्तरमें लभ्य होते हैं—

'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।'

(योगसूत्र २। १२)

तीव्र प्रयत्नपूर्वक मन्त्र एवं तपद्वारा आचरित अथवा ईश्वर, देवता तथा महर्षियोंकी आराधनाद्वारा जो कर्माशय उत्पन्न होते हैं, ऐसे पुण्यकर्माशयोंका फल सद्यः प्राप्त होता है। इन्हें दृष्टजन्मवेदनीय पुण्यकर्माशय कहते हैं। शिवपुराणके अनुसार नन्दीश्वर कुमारने महादेवकी अर्चना कर मनुष्ययोनिका परित्यागकर देवत्वपदको प्राप्त किया। इसके विपरीत प्राणियोंको दुःख पहुँचाने, विश्वासघात करने, तपस्वियोंके प्रति अपकार करनेसे शीघ्र निष्पन्न होनेवाला दृष्टजन्मवेदनीय पापरूप-कर्माशय कहा जाता है। महाभारतके अनुसार राजा नहुष जो इन्द्रपदपर प्रतिष्ठित थे, शिविकावहनमें संलग्न ऋषियोंका अपकार करनेके कारण देवशरीरका परित्यागकर सर्प-योनिको प्राप्त हुए। योगसूत्रभाष्यकर्ता आचार्य व्यासजीने इन तथ्योंको इस प्रकार व्यक्त किया है—

'तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः कामलोभमोहक्रोधप्रभवः। स दृष्टजन्मवेदनीयश्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च। तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपः समाधिभिर्निर्वर्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति।' (योगसूत्र २। १२ पर व्यासभाष्य)

उपर्युक्त विवेचनासे यह स्पष्ट है कि शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके फल वर्तमान जन्ममें अनुभवके योग्य (दृष्टजन्मवेदनीय) होते हैं, किंतु सहस्रवर्षपर्यन्त उपभोगके योग्य जो पापरूप फल हैं, उनका भोग शतवर्षपरिमित आयुवाले मनुष्यशरीरमें सम्भव नहीं है। ऐसे कर्मवालोंके लिये ही जन्मान्तरमें नरकयोनिका विधान शास्त्रसम्मत है। अतः नरकवासी प्राणियोंका कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय नहीं है। आचार्य व्यास स्पष्ट कहते हैं—**'तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः।'** (योगसूत्र २। १२ पर व्यासभाष्य)

आचार्य विज्ञानभिक्षुको उपर्युक्त कथनपर आपत्ति है। उनकी दृष्टिमें नारकीय पुरुषद्वारा साधन-सामग्रीके अभावमें जिस प्रकार नरकमें कर्मानुष्ठान करना सम्भव नहीं है, अतः उनका कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय नहीं है, उसी प्रकार

स्वर्गीय पुरुषोंके द्वारा भी कर्म सम्भव न होनेके कारण केवल नरकवासियोंके लिये दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशयका निषेध क्यों किया गया है? **'नारकिपुरुषाणां धर्माद्यनुत्पत्तेः। ननु स्वर्गिणामपि कर्म नोत्पद्यत इति कथं नारकिवचन-मात्रमिति॥'** (योगसूत्र २। १२ पर योगवार्तिक)

इसका समाधान जिस प्रकार भाष्यकार आचार्य व्यासने किया है, वह समीचीन है। उनकी दृष्टिमें मनुष्यशरीरकृत स्वर्ग तथा नरकका जनक पुण्य तथा पापरूप कर्माशय ही क्लेशमूलक तथा दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय है, किंतु नरकका जनक जो नरकप्राप्तिके पूर्वका कर्माशय है, वह अदृष्टजन्मवेदनीय ही है; क्योंकि नरकमें किसी प्रकारका कर्म सम्पादित नहीं होता है, केवल पापोंके फलका भोग होता है। मनुष्योंका ही कर्ममें अधिकार है और यही कर्मभूमि है। योगसूत्रभाष्यविवरणकर्ता शंकराचार्यजी स्पष्ट कहते हैं—**'यन्मनुष्याणां कर्माधिकारः इयं च कर्मभूमिरिति, तत्क्षिप्रफलसिद्ध्यपेक्षम्।'**। तदुक्तम्—**'क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा इति।'** (योगसूत्र २। १२ पर विवरणभाष्य)

अतः स्पष्ट है कि पुण्य-पाप कर्मोंका हेतु क्लेश है, इन क्लेशोंकी निवृत्ति आवश्यक है। तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधानके द्वारा क्लेशोंका प्रभाव कम (तनुकरण) किया जाता है तथा तत्त्वज्ञानके द्वारा क्लेशोंको दग्ध कर दिया जाता है, ऐसे क्षीणक्लेशयुक्त ज्ञानियोंको जन्मान्तरकी प्राप्ति नहीं होती है। उनके जन्मान्तरके आरम्भक जो कर्म थे, वे प्रसंख्यान-अग्निद्वारा दग्ध हो चुके रहते हैं, अतः ज्ञानियोंके लिये भाष्यकार व्यास कहते हैं—**'क्षीणक्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति।'** (योगसूत्र २। १२ पर व्यासभाष्य)

यहाँ जिज्ञासा होती है कि क्लेश क्या हैं? उनका स्वरूप क्या है? इसके उत्तरस्वरूप योगसूत्रकार पञ्चक्लेशोंका प्रतिपादन करते हैं—

'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।'

(योगसूत्र २। ३)

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश—ये क्लेश हैं। अनित्य पदार्थोंमें नित्यत्वका भान, अशुचिमें शुचिता, दुःखमें सुखकी प्रतीति और अनात्मपदार्थोंमें आत्मबुद्धिका कारण व्यक्तिमें रहनेवाली अविद्या है। बुद्धि एवं पुरुषमें एकात्मताकी प्रतीति, सुखके हेतुभूत पदार्थोंमें आसक्ति, दुःख देनेवाले पदार्थोंके प्रति द्वेष-भावना तथा पूर्वजन्मकी वासनासे वासित होनेके कारण मरणसम्बन्धी भय इन्हीं पञ्चक्लेशोंके विद्यमान रहनेके कारण होता है।

इन क्लेशोंमें सर्वप्रमुख अविद्या है, वही अस्मिता आदि उत्तरवर्ती क्लेशोंकी उत्पत्तिकी भूमि है—

'अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।'

(योगसूत्र २। ४)

उपर्युक्त क्लेशोंके विद्यमान रहनेपर पुण्यपापरूप कर्माशयके अनुरूप जाति, आयु एवं भोग-फल होते हैं—

'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।'

(योगसूत्र २। १३)

जातिसे तात्पर्य जन्मसे है। उद्भिजसे मानवतक प्राणी ऐहलौकिक जातिके अन्तर्गत परिगणित किये जाते हैं। उद्भिज जातिमें तमोगुण एवं मानवमें रजोगुणका बाहुल्य होता है। पशु जाति उद्भिजसदृश अवरकोटिकी है। जीवात्माका इस शरीरके साथ यावत्कालपर्यन्त जो सम्बन्ध है, वह आयु कहा जाता है अर्थात् भोगसहित देहरूप कर्मफलकी अवस्थितिके कालका नाम आयु है। अनुभूयमान सुख-दुःख भोग कहलाता है।

पुण्य-पापका हेतुभूत कर्माशय नियत (निश्चित) तथा अनियत (अनिश्चित) फलवाला होता है। निश्चित फलोंको देनेवाले कर्माशयके विषयमें जन्मकी अवधारणा योगदर्शनमें बहुशः हुई है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या एक कर्मसे एक जन्म सम्भव है अथवा एक कर्मसे अनेक जन्म? द्वितीय विचारणाके अनुसार क्या अनेक कर्म अनेक जन्मोंको निष्पादित करते हैं अथवा अनेक कर्मोंसे एक जन्म होता है?

इन चार प्रकारके विकल्पोंके उपस्थित होनेपर प्रथम ग्राह्य नहीं है। एक कर्मसे यदि आगामी जन्म निष्पन्न हो जाय तो पूर्वमें सम्पादित असंख्य कर्मोंकी बिना फलके समाप्ति माननी पड़ेगी, जो कर्मसिद्धान्तकी दृष्टिसे असंगत है। द्वितीय अवधारणा इससे भी अधिक दूषित है; क्योंकि एक ही कर्मद्वारा अनेक जन्मोंके निष्पन्न होनेपर शेष कर्मोंको फल देनेका कभी अवसर प्राप्त ही नहीं हो सकेगा। तृतीय विकल्पकी दृष्टिसे विचार करें तो अनेक कर्मोंसे अनेक जन्म युगपद्-सम्भाव्य नहीं हो सकते हैं। अतः दोषयुक्त होनेके कारण तीनों मत अस्वीकार्य हैं।

जन्मविषयक चतुर्थ सिद्धान्त ही योगदर्शनमें मान्य है। इसके अनुसार जन्मसे लेकर मरणपर्यन्त किये गये सुख-दुःखके हेतुभूत अनेक विचित्र कर्म हैं, वे सभी पुण्य एवं पापरूप दो समूहोंमें विभक्त हो जाते हैं और मरणकालके समय जिसका प्राधान्य होता है, वे मरणधर्मका सम्पादन करते हैं और उन्हीं कर्मोंके अनुसार भावी जन्म, आयु एवं सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है। एक जन्मका कारक होनेसे यह कर्मसिद्धान्त 'एकभविक कर्माशयवाद' कहलाता है। भाष्यकार कहते हैं—

'तस्माज्जन्मप्रयाणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशय-प्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायणा-भिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मरणं प्रसाध्य सम्मूर्च्छित एकमेव जन्म करोति। तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति॥' (योगसूत्र २।१३ पर व्यासभाष्य)

अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाकवाले कर्माशयकी तीन प्रकारकी स्थिति होती है। प्रथम किये गये शुभ कर्मोंके फलस्वरूप अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। दूसरी गतिका उल्लेख करते हुए भाष्यकार व्यास कहते हैं कि पुण्यकर्मके साथ मिश्रित पापरूप कर्म मध्यमें स्वल्प दुःख अवश्य देता है, परंतु उसका प्रभाव अधिक नहीं होता है। इसे कर्मोंका 'अवापगमन' कहते हैं। तीसरे प्रकारकी गति वह है; जहाँ अवश्य फलदेनेवाले बलवान् कर्मोंसे अभिभूत होकर दूसरे कर्म बीजरूपमें पड़े रहते हैं और कालान्तर में उद्बोधक सामग्रीको प्राप्त कर उद्बुद्ध होकर फल देते हैं। इन कर्माशयोंके फलायमान होनेमें देश, काल और निमित्तके विषयमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार लोकमें जो अप्रत्याशित घटनाएँ व्यक्तिके साथ घटित होती दृष्टिगोचर होती हैं, उनमें व्यक्तिके कर्म निहित हैं। इन विचित्रताओंकी दृष्टिसे भाष्यकार स्पष्ट कहते हैं—**'कर्मगति-श्चित्रा दुर्विज्ञाना चेति॥'** (योगसूत्र २।१३पर व्यासभाष्य)

इस प्रकार जन्मका हेतु पुण्य-पाप कर्म है, वह कर्म रागद्वेष-जन्य है। योगियोंके राग-द्वेष नष्ट हैं, इसीलिये उनका जन्म नहीं होता है, वे मुक्त कहलाते हैं—

'तस्यैव नास्त्याशयो रागादिप्रवृत्तिः। नातः पुण्यपापाभि-सम्बन्धः क्षीणक्लेशत्वाद् योगिन इति।'

(योगसूत्र ४।६ पर व्यासभाष्य)

किंतु योगियोंसे भिन्न सामान्य मनुष्योंमें शुक्ल, कृष्ण तथा शुक्लकृष्ण भेदसे तीन प्रकारके कर्म होते हैं—

'कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।'

(योगसूत्र ४।७)

इन तीन प्रकारके कर्मोंद्वारा उनके फलोंके अनुसार वासनाओंका आविर्भाव होता है अर्थात् जो कर्म जिस जाति, आयुष्य तथा भोगरूप फलका आरम्भक होता है, वह कर्म उस जात्यादि फलके अनुकूल ही वासनाका अभिव्यञ्जक होता है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि वासनाओंसे ही भोग सम्भव है? तो सर्वप्रथम जन्मके समय वासनाके अभावमें भोग कैसे हुआ? उत्तर है कि अनेक जन्मोंकी वासनाएँ अनादि कालसे चित्तमें विद्यमान रहती हैं और पूर्व वासनासे वासित होकर वर्तमान जन्ममें उसीके अनुरूप जीव आचरण करता है अन्यथा मनुष्य जन्मके पश्चात् जिसे दिव्य अथवा नारकीय योनि प्राप्त होती है, उसकी दिव्य अथवा नारक भोगमें प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये एवं मार्जार योनि प्राप्त होनेपर मूषक-भक्षणमें प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये, किंतु होती अवश्य है। अतः यह सिद्ध है कि फलके अनुसार ही वासनाकी अभिव्यक्ति होती है—

यज्जातीयस्य कर्मणो यो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासनाः कर्मविपाकमनुशेरते तासामेवाभिव्यक्तिः।

(योगसूत्र ४।८ पर व्यासभाष्य)

ये वासनाएँ जाति, देश और कालके व्यवधानसे युक्त होनेपर भी स्मृति और संस्कारके एक होनेके कारण* पूर्व वासनाके अनुरूप जीव जिस योनिको प्राप्त होता है, तदनुसार आचरण करता है और ज्ञानप्राप्तिके पूर्वतक बारम्बार कर्माशयके अनुसार श्वा, मनुष्य, तिर्यक्, उद्भिज योनिको प्राप्त होता रहता है। ज्ञान होनेपर भी प्रारब्धकर्मोंके भोगहेतु शरीरकी स्थिति बनी रहती है। फलविपाकारम्भी कर्म व्यापारके आरम्भक होते हैं तथा क्रियाकी परिसमाप्तिपर्यन्त होनेसे क्रियमाण कर्म कहे जाते हैं। ये कर्म भी सञ्चित होते रहते हैं। पूर्वजन्मोंके सञ्चितकर्म शरीरके आरम्भक होते हैं, परंतु प्रसंख्यान-तत्त्वाग्निसे जिन क्लेशकर्मोंकी निवृत्ति हो चुकी है, ऐसे क्षीणक्लेश पुनः भावी जन्मके कारक नहीं होते हैं।



* 'जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्॥' (योगसूत्र ४।९)

मनका निरोध

(श्रीगणेशदत्तजी सारस्वत)

एक बोध कथा है—एक कमरेमें एक सज्जन बैठे थे। दीवारपर घड़ी लगी हुई थी, लगातार चलती हुई टिक-टिक कर रही थी। वे सज्जन इसकी टिक-टिक सुन रहे थे। बाहर गलीमें ऊँची आवाजमें बाजे बजने लगे, अत: सज्जनको घड़ीकी ध्वनि सुनायी देना बंद हो गयी। भयभीत होकर उन्होंने नौकरको बुलाकर कहा—देखो तो सम्भवत: घड़ी चलनी बंद हो गयी है, ध्वनि सुनायी नहीं पड़ती।

नौकरने ध्यानसे घड़ीको देखा। वास्तविक बातको समझकर बोला—घड़ी बंद नहीं हुई है। बाहरकी ध्वनि इतनी अधिक है कि इसकी टिक-टिक सुनायी नहीं देती।

इस बोधकथामें वर्णित कमरा ही मन है। इसके अंदर परमात्माकी ध्वनि घड़ीकी तरह लगातार टिक-टिक करती है, लगातार बोलती रहती है, किंतु बाहरकी इच्छाओं और वासनाओंके जो बाजे हमने बजा रखे हैं, उन्होंने इस ध्वनिको ही दबा दिया है। अंदरके पट तब खुलें जब बाहरके पट बंद हों। बाहरके पट बंद होनेसे तात्पर्य है विषयोंका परित्याग, इच्छा-राहित्यकी अमूल्य स्थिति, जो सहज प्राप्त होनेवाली नहीं; क्योंकि इन इच्छाओंका सम्बन्ध अनेक वासनाओंसे है। ये वासनाएँ ही कर्मका मूल कारण हैं। उपनिषद्‌का कथन है—'**जन्मान्तरशताभ्यस्ता मिथ्यासंसार-वासना, सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित्**'—अर्थात् असंख्य जन्मोंकी अभ्यस्त ये संसारकी मिथ्या वासनाएँ बिना चिर अभ्यासके क्षीण नहीं हो सकतीं। जबतक वासना है तबतक कर्म होते रहेंगे। कर्म समाप्त करना है तो वासनाको मारना होगा और वह भगवान्‌का नाम लेनेसे मरती है। इसीलिये सुकरात भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं—'हे ईश्वर! मेरी प्रार्थना स्वीकार कर कि मैं भीतरसे खूबसूरत बनूँ।' भीतरसे खूबसूरत बननेसे तात्पर्य है मनका निर्विषय होना तथा शम, विचार, संतोष और सत्संग—इन चारोंका प्रयत्न पूर्वक सेवन करना। महर्षि वसिष्ठके अनुसार शम, विचार आदि ये ही मोक्षके चार द्वारपाल हैं।

गीतामें भगवान्‌की वाणी है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमाप: प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

अर्थात् जिस प्रकार अचल प्रतिष्ठावाले जलपूर्ण समुद्रमें सम्पूर्ण नदियाँ प्रवेश कर जाती हैं, उसी प्रकार जब मानवकी समस्त एषणाएँ उस आप्तकाम आत्मस्वरूपमें विलीन हो जाती हैं, तभी शान्तिकी आशा की जा सकती है। हम संसारमें तो रहें, किंतु संसार हमारे मनमें न रहे, प्रयत्न इसका होना चाहिये। वस्तुत: मन ही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण है—'**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:।**' विषयासक्त मन बद्ध और निर्विषय मन मुक्त माना जाता है। शंकराचार्यजी कहते हैं कि जिसने मनको जीत लिया, उसने जगत्‌को जीत लिया। मनका पूर्ण निरोध करनेमें विषयविहीन मन ही समर्थ होता है। मनकी शक्ति अभ्यास है, विश्राम नहीं। जैसे प्रात:काल सूर्योदय होते ही अन्धकार दूर भाग जाता है, ऐसे ही मनकी प्रसन्नतासे सारी बाधाएँ शान्त हो जाती हैं। मन तभी प्रसन्न होता है, जब उसके दोष दूर हो जाते हैं। मनके दोष दो प्रकारके माने गये हैं—स्थायी तथा आवेगजन्य। लोभ, मोह, आसक्ति तथा मान-सम्मानकी इच्छाएँ स्थायी दोष हैं। ये निरन्तर मनमें बने रहते हैं। विवेक, वैराग्य तथा सत्संगके द्वारा ही इन्हें दूर किया जा सकता है।

काम और क्रोध आवेगजन्य दोष हैं। रोगमें तथा वृद्धावस्थामें कामवेग समाप्त हो जाता है। जहाँ भय हो वहाँ क्रोध नहीं आता है। काम या क्रोध कब उत्पन्न हो जायगा इसका पता भी नहीं लग पाता। आ जानेपर यदि बुद्धिमें कुछ सावधानी हो तो इन्हें दबानेका प्रयत्न किया जा सकता है। इनको न आने दिया जाय, इसका पूर्वसे कोई प्रबन्ध सम्भव नहीं है। साधक यदि स्थायी दोषोंपर अधिक ध्यान दे, उनका उन्मूलन कर दे तो आवेगजन्य दोष उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते।

विदुरजी ममताको सबसे बड़ा दु:ख मानते हैं—'**ममत्वं परमं दु:खम्।**' महाभारतमें भी इसे सर्वथा त्याज्य बताया गया है—'**त्यक्तव्यो ममकार:**' साथ ही यह भी कहा गया है कि यदि ममता करनी ही है तो उसके

फलकको विस्तृत कर दिया जाय, जिससे कि '*सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥*' की भावना मूर्तरूप ग्रहण कर सके। तुलसीने ममत्वकी इस डोरीको प्रभुके चरणोंमें बाँधनेका संकेत किया है—'*जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥*' ममताके उन बिखरे धागोंकी डोरीको दृढ़तासे मङ्गलमय प्रभुके चरणोंमें बाँधनेके लिये एक बहुत सुन्दर और सरल साधन है कि हम उनसे अपना अत्यन्त निकटका सम्बन्ध जोड़ लें—चाहे स्वामीरूपमें, चाहे सखा और चाहे भ्राताके रूपमें उन्हें ही सर्वतोभावेन अपना समझें। चाहें तो उन्हें पुत्ररूपमें भी अपना बना लें। ऐसे भक्तोंके लिये उनका डिंडिम घोष है—

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥

गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

अर्थात् जो अनन्य भक्तिसे मेरा चिन्तन करते हुए उपासना करते हैं, उनका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ।

पण्डित जगन्नाथ मिश्रसे सम्बन्धित एक घटना इस संदर्भमें उल्लेख्य है—पण्डितजीने गीतापाठ करते समय '**योगक्षेमं वहाम्यहम्**' पदका '**वहाम्यहम्**' शब्द काटकर उसके स्थानपर '**ददाम्यहम्**' लिख दिया। उनके मतानुसार भगवान् अपने भक्तकी सब व्यवस्था किसी दूसरेको प्रेरित करके करवा देते हैं। इन छोटे-छोटे कार्योंके लिये उन्हें स्वयं भाग-दौड़ करनेकी क्या आवश्यकता है?

अगले दिन घरपर खाने-पीनेका कुछ साधन न था, पण्डितजी स्नान करने चले गये। पीछेसे उनकी धर्मपत्नीको चिन्ता हुई कि भोजन कैसे बनेगा?

'माताजी! माताजी!' बाहरसे आवाज आयी। उन्होंने दरवाजा खोला; देखा कि एक छोटा-सा साँवला-सलोना बालक सिरपर राशनकी गठरी लिये खड़ा था। यह पण्डितजीने भेजी है—वह बोला।

'तुम्हें यह चोट कैसे लग गयी बेटा?' बालकके गालपर घाव देखकर उन्होंने प्रश्न किया।

यह पण्डितजीने मारा—''''इतना कहता हुआ बालक चला गया। थोड़ी देरमें पण्डितजी लौटे तो वे बिगड़ पड़ीं—बड़े निर्दयी हैं आप, उस बालकको क्यों मारा?

'कौन-सा बालक, देवीजी?' पण्डितजीने आश्चर्यपूर्वक पूछा।

'वही जिसके सिरपर रखकर आपने यह राशन भेजा था—गठरीकी ओर संकेत करते हुए वे बोलीं।'

'बालक! गठरी! मारा! मैंने?'

पण्डितजी अवाक् रह गये। उन्हें अपनी भूलका ध्यान आया—'**वहाम्यहम्**' ही ठीक है, मैं गलतीपर था। यह घटना गीताके अक्षरशः सत्य होनेका विदग्ध प्रमाण है।

~~○~~

क्रोध साक्षात् यमराज है

(श्रीलाजपतरायजी सभरवाल)

मानव-जीवनमें कई मनोविकार होते हैं। सबसे प्रबल मनोविकार है क्रोध। जिससे हमारे कर्म सबसे अधिक प्रभावित होते हैं। परंतु क्रोध क्यों आता है? यह प्रश्न गम्भीर है और इसका उत्तर भी उतना ही गम्भीर है। जीवनमें ऐसी कई घटनाएँ हो जाती हैं, जहाँ क्षणिक क्रोधके कारण भी गम्भीर परिणाम देखनेको मिलते हैं। विवेककी कमीके कारण ऐसा होता है। क्रोध और विवेक एक-दूसरेके विरोधी हैं, जैसे अन्धकार और प्रकाश। प्रकाशकी एक किरणके होते ही अन्धकार दूर हो जाता है। उसी प्रकार विवेककी कमीके कारण क्रोध होता है। जब मनुष्यका विवेक नष्ट हो जाता है, तब क्रोधी व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि कोई बात कहने या करने योग्य है या नहीं। गीता (२।६२)-में बताया गया है कि '**कामात्क्रोधोऽभिजायते**' अर्थात् मनुष्यकी कामनापूर्तिमें किसी प्रकारकी बाधा पड़े तो क्रोध पैदा हो जाता है। इसी प्रकार यदि कोई दूसरा व्यक्ति किसीके प्रयासमें बाधक हो तो भी क्रोध उत्पन्न हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण क्रोधके विषयमें बताते हुए अर्जुनसे कहते हैं कि रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है,

यह भोगोंसे न अघानेवाला और बड़ा पापी है। इसको ही तुम इस विषयमें शत्रु जानो—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

जब हमारी इच्छाओंके योग्य कोई कार्य नहीं होता, तब मनमें तनाव, कुण्ठा, संघर्ष एवं असंतोषकी स्थिति बनती है। कुछ सीमातक हमारा विवेक ऐसी स्थितिको शान्त करनेका प्रयास करता रहता है, परंतु जब नियन्त्रण नहीं रहता तो क्रोध उबल पड़ता है। क्रोध और हिंसाके प्रभावमें व्यक्ति पैशाचिक भावनासे भर जाता है, तब कुछ-न-कुछ अनर्थ हो ही जाता है।

प्रायः कई बार क्रोधका कारण यह भी होता है कि हमारे अंदर हिंसाके भाव सूक्ष्मरूपमें पनपते रहते हैं—जैसे वैमनस्य, विरोध, कटुता, ईर्ष्या, शत्रुता, प्रतिरोध, प्रतिद्वन्द्विता आदि। इनमें कोई भी भाव हमारे चित्तमें रहेगा तो वह क्रोधका रूप धारण कर लेगा। यह सब विवेककी कमी और हिंसाकी भावनाके कारण है। वस्तुतः तामसिक तत्त्वकी उग्रताके कारण बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और फिर किसीका अनिष्ट करनेमें कोई हिचकिचाहट नहीं होती।

यदि शत्रुताके स्थानपर प्रेम, द्वेषके स्थानपर आत्मीय भाव होंगे तो हिंसा समाप्त होगी और क्रोध भी कम होगा या समाप्त हो जायगा। जब हमारे अंदर हिंसाकी भावना रहेगी तो क्रोध भी किसी-न-किसी रूपमें प्रकट होगा। केवल क्रोधको दबानेसे क्रोधका अन्त नहीं होता, अपितु एक भयानक मनःस्थिति पलती रहेगी। दैनिक जीवनमें कई बार हीनताकी भावना होनेके कारण क्रोध आता है। अपनी किसी हीन भावनाको छिपानेके लिये लोग क्रोधका सहारा लेते हैं ताकि अपनी श्रेष्ठता सिद्ध कर सकें। भगवान् श्रीकृष्णने गीता (१६। २१)-में क्रोधको नरकके तीन द्वारोंमेंसे एक कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

क्रोध आनेपर अगर हम थोड़ी देरके लिये उसे टाल दें तो क्रोधसे बचाव किया जा सकता है। जब भी कोई अच्छा काम करनेका विचार आये तो उसी समय कर लेना चाहिये और बुरा विचार आये तो उसे टाल देना चाहिये। यह कार्य कठिन तो है, परंतु प्रयास करनेसे सफलता मिल जाती है। परंतु ऐसा काम वही कर सकता है, जो अपनी इन्द्रियोंपर काबू रखनेमें सक्षम हो, उसका आत्मबल हो, बुद्धिपर विश्वास हो, स्वभाव शान्त और गम्भीर हो। प्रेमपूर्वक व्यवहार करनेसे बुद्धिका विकास, निर्णय लेनेकी क्षमता, समाजमें प्रतिष्ठा बढ़ती है। अक्रोधको धर्मके दस लक्षणोंमेंसे एक माना गया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनुस्मृति ६। ९२)

ऐसे व्यवहारसे मन और वाणीपर नियन्त्रण रहता है। इसीलिये कहा गया है कि क्रोधको शान्तिसे जीते '**अक्रोधेन जयेत्क्रोधम्।**'

क्रोध पतन और पराभवका कारण होता है। अतः इससे बचना ही श्रेयस्कर है। क्रोध ही अनेक महापुरुषोंके पराभवका कारण बना। महर्षि दुर्वासा भगवान् शंकरके अंशावतार और महान् ज्ञानी थे, परंतु स्वभावतः क्रोधी होनेके कारण उन्हें राजा अम्बरीषके यहाँ विपत्तिका सामना करना पड़ गया। क्रोध ही उनके पराभवका कारण बना। इसी प्रकार भृगुश्रेष्ठ परशुरामजी भी शिवधनुषभङ्ग-प्रकरणमें क्रोधके कारण ही पराभूत हुए और उन्हें तपस्यासे प्राप्त पुण्य लोकोंको गँवाना पड़ा।

वस्तुतः क्रोधके मूलमें है—काम। कामना होना या करना—मनका कार्य है। मनके विपरीत होनेपर ही क्रोध होता है। मनका स्वभाव अत्यन्त चञ्चल है और उसकी प्रकृति संकल्प-विकल्पात्मक है। मनसे किया निर्णय बुद्धिके विपरीत भी हो सकता है, इसलिये मनके ऊपर बुद्धिका नियन्त्रण होना चाहिये। बुद्धिके नियन्त्रणसे विचारोंमें सात्त्विकता आती है और रजोगुण तथा तमोगुणका भाव तिरोहित हो जाता है। क्रोध होनेपर अविवेक उपजता है और फिर इससे स्मृतिविभ्रम हो जाता है, स्मृतिके विनष्ट हो जानेपर बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धिनाश ही विनाशका मूल हेतु है—'**बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।**' तात्पर्य यह है कि अनासक्त भावसे रहनेपर न तो काम रहेगा और न क्रोध ही। इसी आशयसे क्रोधको साक्षात् यमराज कहा गया है और शास्त्रोंमें इससे बचनेका परामर्श दिया गया है।

~~~०~~~
~~~

क्या विज्ञान ईश्वरीय सत्ताको स्वीकार करेगा?

(स्वामी श्रीब्रह्मवेदान्ताचार्यजी)

'हे भगवान्, यह तुमने क्या किया? ईश्वर जो करता है, सो अच्छा ही करता है। अब तो इन्हें ऊपरवाला ही बचा सकता है'—आम जनताके मनके भावोंको प्रकट करनेवाले ये विचार उस अदृश्य शक्तिकी ओर ही संकेत करते हैं, जिन्हें हम 'भगवान्', 'गॉड' या 'खुदा' के नामसे जानते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या वास्तवमें ऐसी कोई शक्ति है, जो हमारे सांसारिक जीवनके हर क्रिया-कलापोंको प्रभावित करती है? क्या ईश्वरकी ऐसी कोई सत्ता है, जो मानव-जीवनको नियन्त्रित करती है? ऐसे अनेक प्रश्न हैं, जिनपर प्रारम्भसे ही अन्वेषण होता आ रहा है, फिर भी यह रहस्य रहस्य ही बनकर रह गया है।

यों तो प्राणियोंके सम्बन्धमें हम जितना जानते हैं, वह अत्यन्त अल्प है। लेकिन जितना जानते हैं, उससे यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मानव-शरीर एक यन्त्र है, जिसकी गतिविधियोंको एक अदृश्य शक्ति नियन्त्रित करती है। वह अदृश्य शक्ति क्या है, जिसकी इच्छाके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता? यद्यपि सभी यह स्वीकार करते हैं कि मानव-शरीरमें आत्माकी सत्ता है, शरीर मरणशील है और आत्मा अमर है, परंतु शरीरके नष्ट हो जानेपर अर्थात् मृत्युके बाद आत्मा कहाँ चली जाती है? आजके युगमें इसका तर्कसंगत वैज्ञानिक उत्तर नहीं मिल पाता और श्रद्धा-विश्वासविहीन हम आज भी उस ईश्वरके रहस्यके घेरेसे घिरे हैं।

भौतिक संसारपर ईश्वरका ही शासन है—ईश्वर एक ऐसी शक्ति है, जो शून्यमेंसे इस सांसारिक सत्ताका संचालन करती है। सारी सृष्टि और सारी प्रकृतिके पीछे उसीकी अतिभौतिकी (साइकिक) ऊर्जा सदैव क्रियाशील रहती है, जिसका ज्ञान वैज्ञानिकोंको नहीं है; क्योंकि विज्ञान तो उसीका अध्ययन-अनुसन्धान करता है, जो दिखायी पड़ता है। जो अदृश्य है, अव्यक्त है—ऐसी ईश्वरीय सत्ताका अनुसन्धान करनेके लिये विज्ञानके पास कोई यन्त्र नहीं है। विज्ञानमें आत्मा, नैतिकता, सत्य, प्रेम तथा ईश्वरका कोई स्थान नहीं है। चारों तरफ विज्ञानका विस्तार हुआ है और आगे भी हो रहा है। परमाणु, जीव, उपपरमाणुओं एवं दूरकी आकाश-गङ्गाओंकी खोज हुई है। मानव चाँदपर पहुँच चुका है। विज्ञानने तो यह पुष्टि कर दी है कि अन्तरिक्षमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। लेकिन वे क्यों हैं? उनकी सृष्टि कैसे हुई और उनका संचालक कौन है? इनका जवाब वैज्ञानिकोंके पास नहीं है। क्या इन सबके पीछे ईश्वरकी सत्ता काम नहीं कर रही है? आज भले ही विज्ञान इसका जवाब न दे सके, लेकिन वह दिन मानव-जीवनमें अवश्य आयेगा; जब विज्ञान इस रहस्यको सुलझानेमें सफल होगा; किंतु तब उसे बाहरकी ओर न देखकर अन्तर्दृष्टि करनी होगी।

आज हम जिस संसारको अपना संसार मानते हैं अथवा वह संसार, जिसे हम जानते हैं असलमें वह भी क्या है? एक वैज्ञानिकने ठीक ही कहा है—हम अपने ज्ञानका अहंकार लिये रहते हैं, पर उस ज्ञानकी सारी इमारत ढहा देनेके लिये एक मामूली प्रश्न ही काफी है। एक नवजात शिशुकी आँखोंमें झाँककर देखो और अपने-आपसे पूछो—हमारी इस दुनियामें यह एक नया निष्कपट, निष्पाप जीव कहाँसे आ गया? क्यों आ गया? इस क्योंका उत्तर विज्ञानके पास नहीं है, वह तो केवल कैसेका उत्तर देता है।

विज्ञानके पास अभी वह टेलिस्कोप नहीं है—विज्ञान अभीतक ऐसे टेलिस्कोपकी खोज नहीं कर पाया है, जिससे वह ईश्वरको देखकर उसकी सत्ताको स्वीकार कर सके। उसको जाननेके लिये दिव्य दृष्टिकी जरूरत होती है। इसको समझनेके लिये एक उदाहरण प्रस्तुत है—

एक राजा था। सोते समय एक दिन उसके मनमें विचार आया—ईश्वर कौन है? वह कहाँ रहता है और उसका काम क्या है? रातभर वह इस विषयपर सोचता रहा। सुबह दरबारमें पहुँचकर उसने दरबारियोंसे यह प्रश्न पूछा। साथ ही यह भी कहा—यदि मेरे प्रश्नोंके संतोषप्रद उत्तर नहीं दिये गये तो सभीको मौतके घाट उतार दिया जायगा। इस घोषणासे भयभीत दरबारियोंने कहा—राजन्! हमलोगोंका काम राज्यकी समस्याओंका निराकरण करना है। आपके प्रश्नोंका सही उत्तर विद्वज्जन ही दे सकते हैं। राजदरबारमें विद्वानोंको बुलाया गया। सभीने अपने-अपने ढंगसे ईश्वरके कार्य,

निवास आदिकी व्याख्या की। लेकिन राजाको इससे संतुष्टि नहीं मिली; क्योंकि उसे तो प्रत्यक्ष प्रमाण चाहिये था। अत: उसने विद्वानोंको एक दिनका समय और दिया।

दूसरे दिन सभी विद्वान् यह सोचकर दरबारमें उपस्थित हुए कि आज तो मौतके मुखमें जाना ही है; क्योंकि राजाको ईश्वरके विषयमें प्रत्यक्ष प्रमाणके साथ संतुष्ट करना मुश्किल है। ईश्वर तो आत्माकी अनुभूति है। उसे न देख सकते हैं, न छू सकते हैं।

एक नवयुवक विद्वान् खड़ा हुआ और बोला—राजन्! आपके इन साधारण प्रश्नोंका जवाब कोई मूर्ख भी दे सकता है। हमलोगोंसे कोई गूढ और रहस्यवाला प्रश्न पूछिये। यह सुनकर राजाने अपने मन्त्रीसे कहा कि तुम जाकर किसी मूर्खको पकड़ लाओ। घास छीलनेवाले एक ग्रामीण मूर्खको दरबारमें हाजिर किया गया। राजाका प्रश्न सुननेके बाद उसने एक बाल्टी दूध मँगाया और एक लकड़ीसे उसे डुलाने लगा। राजाने कहा 'अरे मूर्ख, तू यह क्या कर रहा है? मेरे प्रश्नोंका जवाब दे।' घसियारेने कहा—'लोग कहते हैं दूधमें घीमें भी होता है, वही खोज रहा हूँ।'

राजाने झुँझलाकर कहा—अरे मूर्ख, घी ऐसे नहीं दिखायी पड़ता। पहले दूधको पकाना पड़ता है, फिर उसका दही बनाया जाता है। दहीको मथा जाता है, उससे मक्खन निकाला जाता है और अन्तमें मक्खनको आँचपर पकानेके बाद ही घी प्राप्त होता है।

घसियारेने कहा—राजन्! यही आपके प्रश्नोंका उत्तर है। जैसे दूधमें घी व्याप्त है, परंतु वह दिखायी नहीं पड़ता। उसको प्राप्त करनेके लिये अनेक प्रक्रियाओंसे गुजरना पड़ता है। ठीक उसी तरह ईश्वर संसारके कण-कणमें व्याप्त है। उसे देखनेके लिये चिन्तन-मनन और साधनारूपी यन्त्रोंकी जरूरत है। तभी हम उसे देख सकते हैं। उसका उत्तर सुनकर राजाको महान् आश्चर्य हुआ। उनके प्रश्नोंका उत्तर मिल चुका था।

ऐसे ही दूरदर्शन-केन्द्रसे कार्यक्रम प्रसारित होकर सारे वायुमण्डलमें व्याप्त हो जाते हैं, परंतु उसे वही देख सकता है, जिसके पास टी०वी०रूपी यन्त्र है। जिसके पास टी०वी०रूपी यन्त्र नहीं है, वह आकाशमण्डलमें व्याप्त इस अदृश्य कार्यक्रमको नहीं देख सकता। उसी तरह ईश्वररूपी अदृश्य शक्तिको देखनेके लिये भी दिव्य ज्योतिरूपी यन्त्रकी जरूरत है, जो वैज्ञानिकोंके पास नहीं है।

जीवन-मरण किसके इशारेपर—हमारा शरीर दुनियाका सबसे बड़ा आश्चर्य है। जरा ऊपरसे नीचेतक निगाह डालिये। आपकी यह देह। आप साँस ले रहे हैं। आपकी धमनियोंमें रुधिरका आवागमन जारी है। आपका दिल धड़क रहा है, आप चल रहे हैं। आप बोल रहे हैं। आप अपने हाथको जब चाहे दाँयें, जब चाहे बाँयें घुमा सकते हैं। यह सब क्या आश्चर्यजनक नहीं है? यह सब कैसे होता है? कौन हमारे शरीरकी क्रियाओंको नियन्त्रित करता है? बचपनसे युवा और युवासे वृद्धावस्थाकी ओर कौन ले जाता है? फूल महकते हैं, चिड़ियाँ चहकती हैं, हवा चलती है। इसके पीछे कौन-सी शक्ति काम करती है? ऐसे अनेक प्रश्न हैं, जो हमारे मनमें उठते हैं और हमें यह माननेके लिये मजबूर कर देते हैं कि ईश्वरकी वह अदृश्य सत्ता ही हमारे जीवनको नियन्त्रित करती है।

ऐसी मान्यता है कि शरीर आत्माको धारण करनेवाला एक पिंजरा है। आत्मा ईश्वरका अंश है। इसमें एक प्रकारकी ज्योति होती है, जो शरीरको भेद कर प्रकाशित होती है। इसे ही जीवन कहते हैं। यह ज्योति जब बंद हो जाती है तो मनुष्य मृत्युको प्राप्त होता है। जब आत्मा शरीरमें निवास करती है तो एक रुपहले तारसे शरीर, आत्मा और परमात्माका सम्बन्ध बना रहता है। इस तारके टूटनेको ही मृत्यु कहते हैं। वैज्ञानिक इस गुत्थीको सुलझानेमें अभी असमर्थ हैं।

इस लोकसे उस लोकतक—ऐसी अनेक घटनाएँ घटित हो चुकी हैं और होती हैं, जब रोगी मृतक घोषित कर दिये जानेके बाद भी जीवित हो उठते हैं और ईश्वर-लोककी अनुभूतियोंसे सबको चकित कर देते हैं। डॉ० रेमण्ड ए० मूडीने अपनी पुस्तक 'लाइफ ऑफ्टर लाइफ' में ऐसे १४० रोगियोंकी अनुभूतियोंका वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

एक आदमी मर रहा है। जैसे ही वह शारीरिक रूपसे पीड़ाकी पराकाष्ठापर पहुँचता है, वैसे ही डॉक्टरद्वारा उसे मृत घोषित कर दिया जाता है और वह अनुभव करता है कि उसे एक लम्बी अँधेरी सुरंगके अंदर ले जाया जा रहा

है। उसके बाद वह अपनेको भौतिक शरीरसे अलग पाता है और वह पाता है कि उसने एक भिन्न प्रकारका शरीर धारण कर लिया है। फिर वह एक दिव्य प्रकाशपुञ्जके रूपमें ऐसे व्यक्तिको देखता है, जिसे कभी नहीं देखा था। फिर वह अपनेको एक सीमा-रेखाके निकट पाता है, जो इस दुनिया और दूसरी दुनियाकी सीमा-रेखा होती है। वहाँ पहुँचकर उसे याद आती है कि उसे धरतीपर वापस चले जाना चाहिये; क्योंकि अभी उसके मरनेका समय नहीं आया है, लेकिन वह वहाँके दिव्य वातावरणके कारण वापस नहीं लौटना चाहता, फिर भी उसे वापस आना पड़ता है। वह पुन: अपने भौतिक शरीरमें प्रवेश करता है। इस तरह वह पुनर्जीवित हो उठता है।

ये सब विज्ञानके सम्मुख एक अनोखी पहेली है और इनके अनुभवोंके आधारपर आत्मा और परमात्माके अस्तित्वसे इनकार करना कठिन है।

बिना दवा उपचार, यह कैसा चमत्कार—सभी देशोंमें सभी कालोंमें दैवी चमत्कारोंकी सत्यतापर लोगोंको विश्वास रहा है और इन चमत्कारोंसे (तीर्थस्थानों अथवा पुण्यस्थानोंमें) रोगियोंके रोग-शमनकी घटनाएँ भी घटती रही हैं। यह ईश्वरीय शक्ति ही है, जो प्रार्थनाद्वारा स्वयं प्रार्थना करनेवालेके रोगको दूर करती है। इसमें यह भी जरूरी नहीं है कि रोगी स्वयं अपने रोग-शमनके लिये प्रार्थना करे। उसके रोग-शमनके लिये दूसरा भी प्रार्थना कर सकता है। अमेरिकामें एक हॉस्पिटल है, जहाँ दूसरे लोग ही प्रार्थना करते हैं और रोगीका रोग दूर हो जाता है। साधारण रोगोंके उपचारकी तो बात ही नहीं; कैंसर और यक्ष्मा-जैसे असाध्य रोग भी प्रार्थनाद्वारा दूर होते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि मानव-जीवन और ईश्वरमें परस्पर कोई नियत सम्बन्ध है, जिसका स्वरूप अबतक जाना नहीं गया है। इस ईश्वरीय चमत्कारसे वैज्ञानिक आज आश्चर्यचकित हैं। वे इसका न तो खण्डन करते हैं और न मण्डन ही। ये तथ्य मानवको ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार करनेके लिये बाध्य करते हैं।

विज्ञानको ईश्वरकी सत्ताको मानना ही होगा—ईश्वरका अस्तित्व एक ऐसा विषय है, जिसपर विचार किया जाना चाहिये। आज विज्ञान भले ही कितना विकास कर ले, लेकिन जबतक वह 'परम सत्ता' की जानकारी नहीं प्राप्त कर लेता, यह विकास अधूरा ही रहेगा।

ईश्वर, जीव, देह और आत्माके परस्पर सम्बन्धोंको नकारना विज्ञानके लिये सम्भव नहीं होगा। उसे एक दिन ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास करना ही होगा। इसके लिये मात्र प्रत्यक्ष ही नहीं परोक्षपर भी दृष्टि रखनी चाहिये।



श्याम सुन्दरकी झाँकी

(श्रीसनातनकुमारजी वाजपेयी 'सनातन')

श्याम छवि बिसरत नाहिं बिसारी।
ऐसी बिंधी हियेमें सजनी, निकरत नाहिं निकारी॥ श्याम०॥
घुँघरारी अलकनिकी लटकनि, कुंडलकी छवि न्यारी।
लोल कपोल मधुर अधराधर, सुघर नासिका प्यारी॥ श्याम०॥
मंजुल मुख छवि बरनि न जावे, कोटि काम बलिहारी।
कोमल कर कल कंज मनोहर, करधनिया रवकारी॥ श्याम०॥
ठुमुकि ठुमुकि पग धरत धरनि जब, सकुचत अवनि विचारी।
नूपुर करत मधुर रुनझुन ध्वनि, करत श्याम किलकारी॥ श्याम०॥
लकुटि कमरिया सोहें करमें, केलि करत गिरधारी।
ग्वाल बाल सब खड़े घेरिकै, नाचें दै दै तारी॥ श्याम०॥
वेणु बजायें झूम झूम हरि, मोहे वृज नर नारी।
जसुमति मातु बलैयाँ लेवें, छिन-छिन नजर उतारी॥ श्याम०॥
वा छवि पै न्यौछावर सजनी, जग की सम्पति सारी।
धन्य 'सनातन' वृजकी माटी, प्रगटे जहाँ मुरारी॥ श्याम०॥



कलिकालके वाल्मीकि—युगपुरुष गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

(श्रीभोलानाथजी सिन्हा)

जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, मानवता करुण-क्रन्दन करती है और मानवीय मूल्योंका ह्रास होता है तब धर्ममर्यादा और संतजनोंकी रक्षाके लिये करुणावरुणालय भगवान् श्रीहरि स्वयं इस धराधामपर आते हैं या उनके सन्देशका प्रसाद लेकर कोई महापुरुष हमारे मध्य आ जाता है। भारतीय इतिहासके मध्यकालमें ऐसी ही स्थिति थी, जब इस्लाम भारतमें अपनी जड़ें जमा रहा था और भारतीय मान्यताएँ, जीवन-शैली छिन्न-भिन्न हो रही थीं, ऐसेमें 'रामबोला' के रूपमें रामभक्त श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने अवतार लिया और भगवान् श्रीरामके लोकमंगलकारी रूपका दर्शन कराकर सनातनधर्म और संस्कृतिको मिटनेसे बचाया। सच्चे अर्थोंमें वे कलिकालके वाल्मीकि ही थे। उनके विषयमें श्रीनाभादासजी महाराज अपने ग्रन्थ 'भक्तमाल'में लिखते हैं—

संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लयौ।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित, वाल्मीकि तुलसी भयौ॥

बालपनमें ही मातृ-पितृस्नेहवञ्चित बालक रामबोला आगे चलकर रघुनाथजीकी कृपासे गोस्वामी तुलसीदासजी हो गये। गोस्वामीजीने बचपनकी अपनी दीन-हीन स्थिति और श्रीरघुनाथजीकी कृपाका वर्णन एक छन्दमें इस प्रकार किया है—

असन-बसन-हीन बिषम-बिषाद-लीन,
देखि दीन दूबरो करै न हाय-हाय को।
तुलसी अनाथसो सनाथ रघुनाथ कियो,
दियो फल सीलसिंधु आपने सुभायको॥

(हनुमानबाहुक ४१)

अहंकारविगलन एवं कामनाविहीन होनेपर ही आत्माका उन्नयन होता है। जिस व्यक्तिकी आत्माका उन्नयन हो जाता है, उस व्यक्तिमें परमात्माका अवतरण हो जाता है। वही व्यक्ति परमात्माकी ज्योतिको अपनी आत्मामें स्वयं देख सकता है और वही संत होता है—***'पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता।'***

तुलसीदासजी ऐसे ही महान् पुरुष हैं। ऐसा महामानव युग-युगमें कोई एक होता है जो युगपुरुष कहा जाता है, जिसका संसार ही परिवार होता है और जिसका जीवन ही लोकसंग्रहके लिये समर्पित होता है।

तुलसीदासजीका जन्म संवत् १५५४ में हुआ। इन्होंने संवत् १६८० में शरीर त्याग दिया। गोस्वामीजीने अपने दीर्घ जीवनकालमें अनेक राजनीतिक और सामाजिक उतार-चढ़ाव देखे। उन्होंने हिन्दुओंके सनातन-धर्म और संस्कृतिपर होनेवाले इस्लामी प्रहारोंको भी देखा।

परिणामत: तुलसीदासजीको मध्यकालकी सामाजिक परिस्थितियाँ, लोगोंके अपने आपतक ही स्वार्थके कारण सीमित रहनेकी प्रवृत्ति, वर्णव्यवस्थाका जातिव्यवस्थाके रूपमें परिणत हो जाना और इसके चलते सामाजिक सम्बन्धोंमें बिखराव आदिका गहन अध्ययन था। तुलसीदासजीपर सत्तासे सटे चाटुकारों, इतिहासकारों और दरबारी कवियोंके दृष्टिकोणका प्रभाव प्राय: शून्य था। उन्होंने समाजमें जो देखा, सुना-परखा और देशकी सामाजिक स्थितिमें मानवीयताका जो लोप पाया तथा उससे जो पीड़ा उन्होंने अनुभव की, उसका निर्भीकतापूर्वक चित्रण किया है। आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी तुलसीदासजीको लोगोंकी मानसिकताकी पूर्ण परख थी। वे समझते थे कि प्रस्थानत्रयीका **'सोऽहं'**, **'अहं ब्रह्मास्मि'**, बुद्ध और महावीरके अहिंसा और त्यागके उपदेश एवं निरीश्वरवाद तथा शंकराचार्यका ज्ञानमार्ग तथा अद्वैतसिद्धान्त स्वार्थवाद और परिग्रहकी लहरमें अस्तित्वहीन हो रहा है, **'न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये'** निष्प्रभावी हो रहा है। साथ-साथ धर्म भी बुरी तरह कुप्रभावित हो रहा है। दूसरी ओर चार्वाकका सिद्धान्त—**यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्**—लोगोंको इन्द्रियसुख देनेमें आगमें घीका काम कर रहा है। इन सब बातोंसे तुलसीदासजीको जो पीड़ा थी, वह उनकी रचनाओंसे स्पष्ट ही झलकती है—

हृदयँ कपट बर बेष धरि बचन कहहिं गढ़ि छोलि।
अब के लोग मयूर ज्यों क्यों मिलिए मन खोलि॥

(दोहावली ३३२)

बेद-पुरान बिहाइ सुपंथु, कुमारग, कोटि कुचालि चली है।
कालु कराल, नृपाल कृपाल न, राजसमाजु बड़ोई छली है॥
बर्न-बिभाग न आश्रमधर्म, दुनी दुख-दोष-दरिद्र-दली है।
स्वारथको परमारथको कलि रामको नामप्रतापु बली है॥

(कवितावली, उत्तरकाण्ड ८५)

खेती न किसानको, भिखारीको न भीख, बलि,
बनिकको बनिज, न चाकरको चाकरी।
जीविका बिहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाई, का करी?'
बेदहूँ पुरान कही, लोकहूँ बिलोकिअत,
साँकरे सबै पै, राम! रावरें कृपा करी।
दारिद-दसानन दबाई दुनी, दीनबंधु!
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी॥

(कवितावली, उत्तरकाण्ड ९७)

मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं। उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं॥
कुलवंति निकारहिं नारि सती। गृह आनहिं चेरि निबेरि गती॥
सुत मानहिं मातु पिता तब लौं। अबलानन दीख नहीं जब लौं॥
ससुरारि पिआरि लगी जब तें। रिपुरूप कुटुंब भए तब तें॥
नृप पाप परायन धर्म नहीं। करि दंड बिडंब प्रजा नितहीं॥
नर पीड़ित रोग न भोग कहीं। अभिमान बिरोध अकारनहीं॥
लघु जीवन संबतु पंच दसा। कलपांत न नास गुमानु असा॥

(रा०च०मा० ७।९९।८; १०१।छंद; १०२।छंद)

तुलसीदासजीने समयकी पुकारको समझा और समाजके कल्याण तथा सर्वाङ्गीण अभ्युदयके लिये सरल लोकभाषामें रामकथाके माध्यमसे एक क्रान्ति पैदा कर दी। धर्मके माध्यमसे उन्होंने रामकथाके आलोकमें ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगकी ऐसी त्रिवेणी बहायी, जिसकी अनवरत धारा ***'नानापुराणनिगमागम'*** 'रामायण' तथा ***'क्वचिदन्यतोऽपि'*** रूपी शिखरोंसे प्रस्फुटित हो श्रद्धा, विश्वास और प्रेमके मार्गसे प्रवाहित होते हुए समाजरूपी महासागरमें व्याप्त हो गयी। इस त्रिवेणीकी मुख्य धारा भक्तियोग है, इसका उद्देश्य कर्मयोग है और ज्ञानयोग इस त्रिवेणीके दोनों किनारे हैं, जो इसे नियन्त्रित रखते हैं। किसीको एक-दूसरेसे अलग नहीं किया जा सकता। तुलसीदासजीका सगुण सिद्धान्त तो ऐसा विशाल वटवृक्ष है, जिसकी जड़ें भक्तियोगकी भूमिमें गड़ी हैं, जिसका तना ज्ञानयोग है तथा शाखाएँ, पत्तियाँ तथा फल-फूल आदि निष्काम कर्मयोग हैं और इसके फलका रस अनन्य शरणागति है। इस वृक्षसे जो ऊर्जा प्रवाहित होती है, उससे आध्यात्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना सबल रूपसे स्थापित होती है।

ऐसा महान् कार्य करनेका अर्थात् लोगोंकी मानसिकतामें क्रान्तिकारी परिवर्तन लानेका अद्भुत काम तुलसीदासजीने अकेले ही कर दिखाया।

तुलसीदासजीको मानवीय मनोविज्ञानकी पूर्ण परख थी। वे जानते थे, मानवको सब सांसारिक सुखोंके रहते हुए भी मोक्षकी तीव्र लालसा है, पर इसके लिये कठोर तपस्या, यज्ञ, योग आदि करनेमें उसका जी नहीं लगता। उन्होंने मानवके अन्दर बैठी या सुप्त इस इच्छाको कुरेद कर जाग्रत् किया और उसे इस बातका स्मरण दिलाया कि तुम मानव हो, तुम्हारे समान कोई जीव नहीं है, देवता भी मानव होनेके लिये तरसते हैं; क्योंकि मोक्षकी प्राप्ति केवल मानवशरीरसे ही सम्भव है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

(रा०च०मा० ७।४३।७-८)

भवसागरसे पार उतरनेके लिये तुलसीदासजीने दो-तीन सरल उपाय बताये—

पाप न करो; क्योंकि तुम्हारे कर्म ही तुम्हारे भाग्यविधाता हैं—

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥
काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥

(रा०च०मा० २।२१९।४; ९२।४)

उन्होंने लोगोंकी नस-नसमें यह बात पिरो दी कि तपस्या करनेके लिये कर्मपथसे विचलित हो जाना तथा घर-द्वार छोड़कर भाग जाना निन्दनीय है—

सोचिअ गृही जो मोह बस करइ करम पथ त्याग।
सोचिअ जती प्रपंच रत बिगत बिबेक बिराग॥

(रा०च०मा० २।१७२)

उन्होंने जोर देकर कहा है कि केवल रामके नामका जप शुद्ध चित्तसे करनेसे कलियुगमें बेड़ा पार हो जायगा—

कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥
सब भरोस तजि जो भज रामहि। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि॥

एहिं कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा॥
रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि॥

(रा०च०मा० ७।१०३।५-६; १३०।५-६)

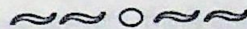
तुलसीदासजीने इस बातका भी संकेत दिया है और कथाके माध्यमसे इसे सिद्ध किया है कि देशकी एक सशक्त इकाई परिवार है। यदि परिवार सुधर जाय (पिता, माता, पति, पत्नी, भाई आदिका पारस्परिक सम्बन्ध आदर्श हो जाय) तो समाज सुधर जायगा, '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' की भावना प्रबल हो जायगी तो देश सुधर जायगा। तुलसीदासजीने मानसके मङ्गलाचरणमें स्पष्ट किया है कि वे '**स्वान्तःसुखाय**' ही '**रघुनाथगाथा**' कहते हैं परंतु इस गाथाके माध्यमसे समाजका ऐसा कोई अङ्ग नहीं है, चाहे राजनीति हो या अध्यात्म हो या गुरु-शिष्य-सम्बन्ध या अनुशासन हो इत्यादि, जिसके कि कल्याणके लिये तुलसीदासजीने मागदर्शन न दिया हो। भरतजीसे श्रीरामजी कहते हैं—

मुखिआ मुखु सो चाहिऐ खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥

(रा०च०मा० २।३१५)

इस प्रकार तुलसीदासजीका '**स्वान्तःसुखाय**' व्यापक रूपमें '**बहुजनहिताय बहुजनसुखाय**' तथा '**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः**' में परिणत हो गया है।

मानस आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना उस समय था। यह युग-युगका साहित्य है और तुलसीदासजी युग-युगके कवि हैं।



बोध-सूत्र

(श्रीराजेन्द्रकुमारजी धवन)

१. संसार 'यह' है, परमात्मा 'वह' है और जीव 'मैं' है।
२. 'यह' जड़ है, 'वह' चेतन है और 'मैं' जड़-चेतनकी ग्रन्थि है।
३. 'यह' प्रकाश्य है, 'वह' प्रकाशक है और 'मैं' प्रतीति है।
४. तत्त्वदर्शियोंने 'यह' (शरीर-संसार)-को 'नहीं' और 'वह' (जीव-ब्रह्म)-को 'है' कहा है।
५. चेतनद्वारा जड़को माने हुए सम्बन्धका नाम 'मैं' है।
६. जबतक 'मैं' है, तबतक 'यह' भी है तथा 'वह' भी है।
७. 'मैं' ही सम्पूर्ण दोषोंका तथा जन्म-मरणका कारण है।
८. 'मैं' के सम्बन्धसे सर्वदेशीय 'है' भी एकदेशीय 'हूँ' (मैं हूँ) हो जाता है।
९. सभी 'मैं' मिलकर 'नहीं' और सभी 'हूँ' मिलकर 'है' हो जाते हैं। 'नहीं' की नित्यनिवृत्ति और 'है' की नित्यप्राप्ति है।
१०. 'मैं' के इस पार 'हूँ' और उस पार 'है' है।
११. 'मैं' की मुख्यता होनेसे जीव 'संसारी' और 'हूँ' की मुख्यता होनेसे 'जिज्ञासु' होता है।
१२. 'हूँ' में ही 'है' छिपा है। अतः जिज्ञासु 'हूँ' में 'है' को स्वीकार करे।
१३. 'मैं' का खण्डन होते ही 'यह' अथवा 'हूँ' नहीं रहता, अपितु केवल 'है' रहता है।
१४. 'है' में स्थितिबोध है।
१५. बोध होनेपर बोधवान् नहीं रहता; क्योंकि 'है' में 'मैं' नहीं है।
१६. 'है' अनुभवरूप है। इसका कभी अननुभव नहीं होता।
१७. 'है' संज्ञा भी 'नहीं' की अपेक्षा है, अन्यथा चिन्मय सत्तामात्र है।
१८. तत्त्वसे 'है' भी नहीं है तथा 'नहीं' भी नहीं है, अपितु जो है, वही है। जो है, वही है।



गोवंशकी दुर्दशा और उसपर विचार

(श्रीरामनारायणजी चाण्डक)

भारतीय संस्कृतिमें गायको माँका स्वरूप माना गया है। वैज्ञानिकोंने भी यह सिद्ध किया है कि बच्चेके लिये माँके दूधके बाद गायका दूध ही सबसे अच्छा आहार है।

हमारे कृषिप्रधान देशमें गोपालन अर्थ-उपार्जनमें भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। गोपालकोंके लिये तो मुख्य रूपसे गाय ही परिवार चलाने (जीविकोपार्जन)-का मुख्य साधन है। शास्त्रोंमें जो गौकी महिमा आयी है, वह छिपी नहीं है। लोकजीवनमें भी गौ हर तरहसे अनुस्यूत है। इतना सब होते हुए भी क्या कारण है कि गायोंकी दिनोंदिन दुर्दशा ही हो रही है?

इसपर विचार करें तो एक बात समझमें आती है कि आजके इस आर्थिक युगमें गाय जबतक आर्थिक दृष्टिकोणसे उपयोगी साबित नहीं होगी तबतक इसकी दशा सुधरनी मुश्किल है। गायके साथ गोपालकके परिवारकी आर्थिक व्यवस्था प्रत्यक्ष रूपसे जुड़ी हुई है।

अब प्रश्न यह आता है कि गायको किस प्रकार आर्थिक दृष्टिकोणसे उपयोगी बनाया जाय?

इसपर विचारके लिये हमें थोड़ा पीछेका इतिहास पलटना होगा कि पहले लोग बड़ी संख्यामें किस प्रकार गायोंको रखते थे? हर घरमें गायका होना मानो जरूरी था, दूध-दहीकी नदियाँ बहती थीं। राजस्थानमें तो साख-सम्बन्ध करते वक्त यह कहावत थी कि ***'धीणो घणोही है बेटी सोरी रेसी'*** जिसके यहाँ जितनी अधिक गायें होतीं, वह परिवार उतना ही आर्थिकसम्पन्न माना जाता। नन्द बाबाके पास नौ लाख गायें थीं। उनके राज्यमें सारी प्रजा सुखी-समृद्ध थी। लोगोंमें परस्पर इतना अपनत्व और प्रेम था कि किसीके घर किसी कारणवश दूध-दही या बिलौना नहीं होता तो उन्हें छाछ ले जानेका संदेश भिजवाते। आज गाय पालना महँगा पड़नेके कारण धीरे-धीरे सभी जन इस व्यवसायसे पीछे हट रहे हैं और गायोंकी स्थिति दयनीय होती जा रही है।

अब पुनः प्रश्न उठता है कि हमारे पूर्वज किस व्यवस्थाके अन्तर्गत इतनी संख्यामें गायें रखते थे। इसके लिये निम्न चार बातोंपर हमें ध्यान देना होगा—१-स्वयंद्वारा परिश्रम, २-गोचरभूमियोंको सुधारकर उसमें चरागाह विकसित करना, ३-अच्छे किस्मके साँड़ तैयार करके देशी नस्लमें सुधार लाना ताकि गायें दुधारू हों और ४-गोपालकोंको दूध, घी अथवा पंचगव्य उत्पादोंका सही भाव मिल सके, ऐसी व्यवस्था करना। यहाँ इन्हीं चार बातोंपर कुछ विचार प्रस्तुत हैं—

१-इसमें सबसे पहला कारण है कि हमारे पूर्वज निष्ठापूर्वक अपने हाथोंसे गायोंकी देखभाल करते थे। अपने खेतोंमें गायोंके खानेका चारा उगानेके लिये अलगसे व्यवस्था रखते थे, जिससे गायें खेतोंमें विचरण करके हरी घास चर लेतीं, खेती समाप्त होनेके बाद खलिहानोंसे तथा खेतोंमें उगा हुआ घास-फूस इकट्ठा करके घरपर लाकर सालभरके लिये गायोंके लिये घासकी व्यवस्था कर लेते। इसके पश्चात् खेतोंमें बचे-खुचे घास-फूसको चरनेके लिये गाँवोंमें चरवाहे (गौरी)-की व्यवस्था होती थी जो गायोंको खेतोंमें चरानेके लिये ले जाता, करीब दो माहतक पेट भरकर गायें सभी खेतोंमें खुलेमें चरकर आतीं, इससे गोपालकको घास-चारा खरीदनेका आर्थिक बोझ नहीं पड़ता, साथ ही इनके गोबरसे खेतोंकी जमीनकी उर्वरा शक्ति भी अच्छी रहती थी। उस समय खेती बैलोंद्वारा की जाती थी, लेकिन आज बैलोंका स्थान ट्रैक्टरोंने ले लिया है। ट्रैक्टरोंद्वारा खेती होनेसे गोवंश तथा किसान दोनोंका भयंकर नुकसान हुआ है।

बेकार बैल बूचड़खानोंमें कटने जाने लगे और किसान कम परिश्रमी होता गया। ट्रैक्टरोंद्वारा खेती होनेसे घास-फूसके पौधे जड़सहित उखड़नेके कारण खेतोंमें घास होना प्रायः बन्द हो गया है। आज ऊर्जाके स्रोतकी न्यूनताके कारण ट्रैक्टर और रासायनिक खादद्वारा खेती बहुत महँगी पड़ने लगी। साथ ही घास-चारेके नहीं उगनेके कारण गोवंशकी दुर्दशा होने लगी। खेतीमें रसायनोंके प्रयोगसे पशुधन और मानव अनेक तरहकी बीमारियोंका शिकार होते जा रहे हैं।

परिवारमें गायें पालनेमें घरकी महिलाओंका भी बड़ा योगदान रहता था। दूध दुहना, बिलौना करना, घरपर गायोंकी देख-रेखका कार्य प्रायः महिलाएँ कर लेती थीं,

लेकिन आज यह बात नहीं रह गयी है। परिवारोंमें गायें रखना धीरे-धीरे बन्द-सा हो गया।

अत: हमें चाहिये कि हम सरकार एवं दानदाताओंके भरोसे न रहकर स्वयंद्वारा परिश्रम करके पूर्वजोंकी इस प्रक्रियाको पुन: दोहराकर जैविक खेती—बैलोंद्वारा खेतोंमें घास उगाकर, परिवारमें गायें रखकर गोवंशको बचायें।

२-पहले हर गाँवमें गायोंके चरानेके लिये गोचरभूमियोंकी व्यवस्था होती थी, जिसका अच्छी तरहसे रखरखाव और उसकी सुरक्षा करना हर व्यक्ति अपना कर्तव्य समझता था। आज गोचरभूमियाँ हम खत्म करते जा रहे हैं और बची हुई भूमिकी कोई देखभाल नहीं है। यह बात भी सही है कि पिछले वर्षोंमें अकालकी स्थितिके कारण गोचरभूमियोंकी भी बड़ी दुर्दशा हुई है।

फिर भी हाथ-पर-हाथ रखकर बैठनेसे इस समस्याका समाधान नहीं होगा। हमें गोचरभूमियोंको जोतकर और उसमें प्रकृतिके अनुरूप घास लगाकर पुन: विकसित करना होगा। गोचरभूमिमें स्वच्छन्द वातावरणमें गायें चरनेसे गायें जहाँ स्वस्थ रहती हैं, वहीं उन्हें तरह-तरहकी वनस्पति चरनेके लिये मिलनेसे दूध स्वास्थ्यवर्धक एवं ज्यादा होता है, जिससे गोपालकपर आर्थिक बोझ कम आता है।

३-पहले हर गाँवमें अच्छे नस्लके देशी साँड़ पूर्वज लोग रखा करते थे। साँड़को गुड़, रोटी देना तथा उसकी देख-रेख करना हर ग्रामवासी अपना धर्म समझता था। अच्छी नस्लके साँड़से गायें भी स्वस्थ एवं दुधारू होती थीं, लेकिन अब गाँवोंमें नस्लकी बात तो दूर साँड़ भी देखनेको कम मिलते हैं। निरन्तर अकालकी स्थितिके कारण पौष्टिक आहार नहीं मिलनेसे गोवंश कमजोर होता चला गया। आज गायोंका दूध इतना कम हो गया कि गोपालकको दूधकी मिलनेवाली कीमतसे पौष्टिक आहार तो दूर घास-चारेकी व्यवस्था करना भी मुश्किल पड़ता है।

इसके लिये उपयोगी साँड़ तैयार करके नस्लसुधार करना बहुत जरूरी हो गया है। हर गाँवमें अच्छी नस्लके साँड़ रखकर हमें पुन: दुधारू गाय तैयार करना होगा।

४-गो-उत्पादोंका उचित मूल्य नहीं मिल रहा है। आज शहरोंकी अपेक्षा गाँवोंमें दूध-घीका मूल्य गोपालकको बहुत कम मिलता है।

इसके लिये गाँवोंमें सहकारी समितियाँ बनाकर गोपालकोंको अपने उत्पादनका उचित मूल्य मिल सके, ऐसी व्यवस्था करनी होगी।

हमारे शास्त्रोंमें गायके पञ्चगव्यसे स्वास्थ्यलाभ एवं वातावरण शुद्ध होनेका बहुत महत्त्व बताया गया है। दूध, दही, घीके अलावा देशी गायका गोमूत्र तथा गोमय अनेक तरहकी बीमारियों जैसे—दमा, सूगर, कैंसरमें बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ है।

हम सभीको तथा सरकारको चाहिये कि देशी गायके गोमूत्र और गोमयके गुणवत्ताकी अच्छी तरह जाँचकर इसका फार्मूला तैयार करके जिन रोगोंमें यह लाभकारी हो, उसकी दवाइयाँ बनाकर जनमानसको स्वास्थ्यमें होनेवाले लाभके बारेमें जानकारी दें। आज करोड़ों रुपये अंग्रेजी दवाइयोंमें खर्च होते हैं, किंतु यदि यह सस्ता इलाज जनताके लिये लाभकारी हो तो इससे मानव तथा गोवंश दोनोंकी रक्षा हो सकती है।

~~०~~

'सखन संग बिहरत नन्दकिशोर'

(वैद्य श्रीभँवरेश्वरजी मिश्र 'श्यामसखा')

सखन संग बिहरत नन्दकिशोर।
होत प्रभात जात बन बीथिन, साथ सखा चहुंओर।
फिरत श्याम डाले गलबहियां, प्रमुदित करत किलोल॥
कीर कपोत पपीहा कोकिल, बोलत अपनो बोल।
करि अनुकरण बोली बोलत, नाचत बनि कै मोर॥
दादुर देखि छलांग लगावत, आवत उनकी ओर।
हंस चाल अलमस्त चलत हंसि, नटवर नवल किशोर॥
सखिन छाक कारन मग जोहत, मोहन माखन चोर।
'श्यामसखा' संग दधि लूटन हित, धावत साँकरि खोर॥

~~०~~

व्रतोत्सव-पर्व

सं० २०६३, शक १९२८, सूर्य दक्षिणायन, वर्षा-शरद्-ऋतु, आश्विन कृष्णपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनांक	मूल, भद्रा, पंचक तथा व्रत-पर्वादि
प्रतिपदा रात्रिमें १०।१८ तक	शुक्र	पू०भा० रात्रिमें १०।१५ तक	८ सितम्बर	मीनराशि सायं ४। ३९ बजेसे, प्रतिपदाश्राद्ध।
द्वितीया '' ७।५० तक	शनि	उ० भा० '' ८।३४ तक	९ ''	मूल रात्रिमें ८। ३४ बजेसे, द्वितीयाश्राद्ध, अशून्यशयनव्रत।
तृतीया सायं ५।२९ तक	रवि	रेवती सायं ६।५८ तक	१० ''	मेषराशि प्रारम्भ तथा पंचक समाप्त सायं ६।५८ बजे, भद्रा प्रातः ६।४० बजेसे सायं ५।२९ बजेतक, तृतीयाश्राद्ध, श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय रात्रिमें ७।५८ बजे।
चतुर्थी दिनमें ३।१६तक	सोम	अश्विनी '' ५।३१ तक	११ ''	मूल सायं ५। ३१ बजेतक, चतुर्थीश्राद्ध।
पंचमी '' १।१५ तक	मंगल	भरणी '' ४।१९ तक	१२ ''	वृषराशि रात्रिमें १०। ५ बजेसे, भरणी-पंचमीश्राद्ध।
षष्ठी '' ११।३४ तक	बुध	कृत्तिका दिनमें ३।२५ तक	१३ ''	षष्ठी-सप्तमीश्राद्ध, भद्रा दिनमें ११।३४ बजेसे रात्रिमें १०।५३ बजेतक।
सप्तमी '' १०।१३ तक	गुरु	रोहिणी '' २।५२ तक	१४ ''	मिथुनराशि रात्रिमें २। ४८ बजेसे, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रके सूर्य दिनमें ८। ४९ बजेसे, अष्टमीश्राद्ध, जीवत्पुत्रिकाव्रत।
अष्टमी '' ९।१९ तक	शुक्र	मृगशिरा '' २।४५ तक	१५ ''	नवमीश्राद्ध, मातृनवमी।
नवमी '' ८।५२ तक	शनि	आर्द्रा '' ३।६ तक	१६ ''	दशमीश्राद्ध, भद्रा रात्रिमें ८। ५४ बजेसे।
दशमी '' ८।५७ तक	रवि	पुनर्वसु '' ३।५८ तक	१७ ''	कर्कराशि दिनमें ९।४५ बजेसे, कन्या-संक्रान्ति सायं ६।५६ बजे, शरद्-ऋतु प्रारम्भ, भद्रा दिनमें ८। ५७ बजेतक, एकादशीश्राद्ध, श्रीविश्वकर्मपूजा, गोदावरीस्नान, गृह-वस्त्रदान।
एकादशी '' ९।३४ तक	सोम	पुष्य सायं ५।२१ तक	१८ ''	मूल सायं ५। २१ बजेसे, द्वादशीश्राद्ध, सौर आश्विनमासारम्भ इन्दिरा एकादशीव्रत (सबका)।
द्वादशी '' १०।३७ तक	मंगल	श्लेषा रात्रिमें ७।११ तक	१९ ''	सिंहराशि रात्रिमें ७। ११ बजेसे, त्रयोदशीश्राद्ध, भौमप्रदोष।
त्रयोदशी '' १२।८ तक	बुध	मघा '' ९।२३ तक	२० ''	मूल रात्रिमें ९। २३ बजेतक, भद्रा दिनमें १२। ८ बजेसे रात्रिमें १। ३ बजेतक, मघाश्राद्ध, मासशिवरात्रिव्रत।
चतुर्दशी '' १।५८ तक	गुरु	पू० फा० '' ११।५२ तक	२१ ''	चतुर्दशीश्राद्ध।
अमावास्या सायं ४।०० तक	शुक्र	उ० फा० '' २।३० तक	२२ ''	कन्याराशि प्रातः ६। ३२ बजेसे, स्नान-दान-श्राद्ध इत्यादिकी अमावास्या, पितृ-विसर्जन, महालय समाप्त।

सं० २०६३, शक १९२८, सूर्य दक्षिणायन, शरद्-ऋतु, आश्विन शुक्लपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनांक	मूल, भद्रा, पंचक तथा व्रत-पर्वादि
प्रतिपदा सायं ६।६ तक	शनि	हस्त रात्रिशेष ५।४ तक	२३ सितम्बर	राष्ट्रीय आश्विनमासारम्भ, शारदीय नवरात्रारम्भ, मातामहश्राद्ध, श्रीअग्रसेन-जयंती।
द्वितीया रात्रिमें ८।२ तक	रवि	चित्रा अहोरात्र	२४ ''	तुलाराशि सायं ६।१५ बजेसे, चन्द्रदर्शन।
तृतीया '' ९।४२ तक	सोम	चित्रा प्रातः ७।२६ तक	२५ ''	× × × ×
चतुर्थी '' १०।५५ तक	मंगल	स्वाती दिनमें ९।३० तक	२६ ''	वृश्चिकराशि रात्रिशेष ४।४१ बजेसे, भद्रा दिनमें १०।१९ बजेसे रात्रिमें १०।५५ बजेतक, वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत।
पंचमी '' ११।४५ तक	बुध	विशाखा '' ११।६ तक	२७ ''	हस्त नक्षत्रके सूर्य रात्रिमें १२।१२ बजेसे, उपांगललिताव्रत।
षष्ठी '' ११।५९ तक	गुरु	अनुराधा '' १२।१४ तक	२८ ''	मूल दिनमें १२।१४ बजेसे।
सप्तमी '' ११।४४ तक	शुक्र	ज्येष्ठा '' १२।५२ तक	२९ ''	धनुराशि दिनमें १२।५२ बजेसे, भद्रा रात्रिमें ११।४४ बजेसे, अन्नपूर्णा-परिक्रमा रात्रिमें ११।४४ बजेसे, महानिशापूजा, पत्रिका प्रवेशन।
अष्टमी '' १०।५८ तक	शनि	मूल '' १।०० तक	३० ''	मूल दिनमें १।०० बजेतक, भद्रा दिनमें ११। २१ बजेतक, श्रीदुर्गाष्टमीव्रत, अन्नपूर्णा-परिक्रमा रात्रिमें १०।५८ बजेतक।
नवमी '' ९।४८ तक	रवि	पू० षा० '' १२।४१ तक	१ अक्टूबर	मकरराशि सायं ६।३० बजेसे, श्रीदुर्गानवमीव्रत।
दशमी '' ८।१४ तक	सोम	उ० षा० '' ११।५८ तक	२ ''	श्रीगाँधी-जयन्ती, विजयादशमी, शमीपूजन, अपराजितापूजा, नीलकंठ-दर्शन, दुर्गाविसर्जन, श्रीमाधवाचार्य-जयन्तीव्रत, बौद्धावतार।
एकादशी सायं ६।२१ तक	मंगल	श्रवण '' १०।५५ तक	३ ''	कुम्भराशि तथा पंचक रात्रिमें १०।१५ बजेसे, भद्रा प्रातः ७।१८ बजेसे सायं ६।२१ बजेतक, पापांकुशा एकादशीव्रत (सबका)।
द्वादशी '' ४।१२ तक	बुध	धनिष्ठा '' ९।३६ तक	४ ''	पद्मनाभ द्वादशी, प्रदोषव्रत, शुक्रास्त पूर्वमें रात्रिमें ८। २१ बजे।
त्रयोदशी दिनमें १।५३ तक	गुरु	शतभिषा '' ८।३ तक	५ ''	मीनराशि रात्रिमें १२।४९ बजेसे।
चतुर्दशी '' ११।२९ तक	शुक्र	पू० भा० प्रातः ६।२६ तक उ० भा० रात्रिशेष ४।४४ तक	६ ''	मूल रात्रिशेष ४। ४४ बजेसे, भद्रा दिनमें ११। २९ बजेसे रात्रिमें १०।१५ बजेतक, शरद्-पूर्णिमा, कोजागरी।
पूर्णिमा '' ९।३ तक	शनि	रेवती रात्रिमें ३।७ तक	७ ''	मेषराशि प्रारम्भ तथा पंचक समाप्त रात्रिमें ३।७ बजे, स्नान-दानादिकी पूर्णिमा, महर्षि वाल्मीकि-जयन्ती, कार्तिकस्नानारम्भ।

साधनोपयोगी पत्र

(१)

श्रीकृष्णचरित्रकी उज्ज्वलता

····आपके पत्रमें ऐसे प्रश्न थे जिनका उत्तर श्रीकृष्णचरित्रके स्मृतियोगमें स्थित चित्तकी सुस्थिर अवस्थामें ही किसी अंशमें लिखा जा सकता है। यह भी देर होनेका एक कारण है। आशा है आप मुझे क्षमा करेंगे।

आपने अपने प्रश्नोंमें भगवान् श्रीकृष्णके व्रजचरित्रपर जो आक्षेप किये हैं और व्यङ्ग्यात्मक वाक्य लिखे हैं, वे तो ठीक नहीं हैं। यह ठीक है कि आप श्रीकृष्णको 'बहुत ही उज्ज्वल' रूपमें देखना चाहते हैं और यह भी सत्य है कि आपको श्रीकृष्णचरित्रका जो 'अपवित्र' (?) वर्णन मिलता है, उसे पढ़-सुनकर दुःख होता है। आपकी नीयत ठीक है, परंतु श्रीकृष्णचरित्रका मर्म समझे बिना ही उसपर दोषारोपण करना और उसे अपवित्र बतला देना उचित नहीं है। आज आपके-ऐसे और भी बहुतसे लोग हैं जो सच्चे हृदयसे श्रीकृष्णके चरित्रको अपनी कल्पनाके अनुसार उज्ज्वलताके साँचेमें ढला हुआ देखना चाहते हैं। परंतु वह उनकी कल्पना है। भगवान्‌को अपनी मर्यादाके अन्दर बाँध रखनेकी उनकी यह कल्पना सचमुच हास्यास्पद ही है। भगवान् भगवान् ही हैं—उनकी लीलाओंकी परीक्षा हमारी मायाच्छन्न बुद्धि नहीं कर सकती।

आप श्रीकृष्णका भजन-चिन्तन कीजिये। भजनके प्रतापसे उनकी कृपाके द्वारा शुद्ध मतिके प्राप्त होनेपर आप श्रीकृष्णके व्रजचरित्रका महत्त्व कुछ समझ सकेंगे। उनका उज्ज्वल चरित्र देखना हो तो उनकी श्रीमद्भगवद्गीताको देखिये, जिसमें कहीं भी किंतु-परंतुके लिये गुंजाइश नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनका व्रजचरित्र उज्ज्वल नहीं है। वह तो परमोज्ज्वल है और परम पवित्र है, परंतु पहले उज्ज्वलकी उपलब्धि होनेपर ही परमोज्ज्वलकी ओर अग्रसर हुआ जा सकता है। गीताके चरम उपदेश भगवत्-शरणागतिको प्राप्त होनेपर ही आगे चलना सम्भव है। जो उनके गीतोक्त उज्ज्वल चरित्रको समझे बिना ही उनके परम उज्ज्वल व्रजचरित्रकी आलोचना करनेका दुःसाहस करते हैं, उनकी विवेककी आँखें चौंधिया जाती हैं और वे अपनेको एक विलक्षण अँधेरेमें पाते हैं, जो उनकी आँखोंके न सहनेयोग्य आत्यन्तिक प्रकाशके कारण उत्पन्न होता है। इसीसे वे वास्तविक रहस्यको न समझकर नाना प्रकारके कुतर्क करके श्रीभगवान्‌पर दोषारोपण करते हैं या उनके उक्त चरित्रको मिथ्या करार देकर बड़े भयानक पाप-पंकमें अपनेको फँसा लेते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं व्रजचरित्रके रहस्यको पूर्णतया जानता हूँ। मैं तो उनके उज्ज्वल गीतारहस्यको भी नहीं जानता। आपने प्रश्नोंके उत्तरमें मेरी अपनी 'सम्मति' पूछी है, इसीसे कुछ लिख रहा हूँ। यही ठीक रहस्य है, यह मेरा दावा नहीं है। आपके लम्बे प्रश्नोंका अलग-अलग उत्तर न लिखकर संक्षेपमें एक ही साथ लिखता हूँ। कोई बात छूट जाय तो क्षमा कीजियेगा।

मैं श्रीगोपीजनोंके साथ की हुई भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंको सर्वथा सत्य और परम पवित्र मानता हूँ। मेरी समझसे उनमें व्यभिचारका जरा भी दोष नहीं है। वह तो साधनके ऊँचे-से-ऊँचे स्तरकी परम पवित्र दिव्य अनुभूति है, जो परम दुर्लभ अत्यन्त कठिन गोपीरतिकी साधनामें सिद्ध, परम विरक्त, एकान्त भगवतरसिक महापुरुषोंको ही उपलब्ध होती है।

श्रीराधारानीका नाम अवश्य ही श्रीमद्भागवतमें नहीं है। इससे यह कहनेका साहस नहीं करना चाहिये कि श्रीराधारानीकी 'कहानी' (?) कल्पित है। वह 'कहानी' नहीं है, सत्य, सत्य है। श्रीमद्भागवतमें नाम नहीं है तो कहीं विरोध भी नहीं है। अत्यन्त प्राचीन पद्मपुराणमें, ब्रह्मवैवर्तमें तथा गर्गसंहितादि सम्मान्य ग्रन्थोंमें उनकी लीला लिखी है और इससे भी बढ़कर उन महात्मा पुरुषोंकी अनुभूति प्रमाण है, जिन्होंने श्रीराधारानीका और उनकी कृपाका प्रत्यक्ष किया है। कोई न माने, तो उसपर न तो कोई जोर है, न आग्रह है। परंतु किसीके मानने-न-माननेसे सत्यका विनाश नहीं हो सकता। श्रीराधारानीका श्रीकृष्णके साथ विवाह हुआ था या नहीं, इस खोजकी आवश्यकता नहीं है, यद्यपि इसका भी वर्णन मिलता है। मेरा तो कहना यह है कि यदि केवल स्थूलदृष्टिसे श्रीकृष्णको साधारण मानव मानकर विचार करते हैं तब तो श्रीकृष्ण जिस समय वृन्दावन छोड़कर मथुरा चले गये थे, उस समय उनकी उम्र ११ वर्षकी थी। रासलीलादि

तो इससे भी बहुत पहलेका वर्णन है। इतनी छोटी अवस्थामें कामक्रीडा हो नहीं सकती और यदि उन्हें सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सबके एकमात्र आत्मा, सर्वलोकमहेश्वर, सच्चिदानन्दघन—साक्षात् भगवान् मानते हैं, तब श्रीराधारानी बाहरसे कोई भी क्यों न हों, वे साक्षात् भगवती हैं, भगवान् श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति हैं, उनके आनन्दस्वरूपका मूर्तरूप हैं, उनकी स्वरूपा शक्ति हैं। वे उनसे कदापि अलग नहीं हैं। आनन्द और प्रेमकी अति दिव्य लीलामें उनका—एक ही रूपका दो भावोंमें दिव्य नित्य प्रकाश है। श्रीराधारानी महाभावरूपा हैं और भगवान् श्रीकृष्ण परम प्रेमस्वरूप हैं। प्रेमका स्वरूप है—प्रेमास्पदके सुखसे सुखी होना। जहाँ निजेन्द्रियतृप्तिकी वासना है, वहाँ तो प्रेम है ही नहीं, वहाँ तो कल्पित काम है। भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमती राधारानीके प्रेमास्पद हैं और श्रीराधारानी श्रीकृष्णकी प्रेमास्पदा हैं। श्रीराधारानी जो कुछ करती हैं, श्रीकृष्णके सुखके लिये करती हैं और श्रीकृष्णको सुखी देखती हैं तो उनके सुखसे सुखी होनेका स्वभाव होनेके कारण श्रीराधारानीको अपार सुख होता है। इधर श्रीराधारानीको सुखी देखकर श्रीकृष्णका सुख बढ़ता है, क्योंकि श्रीराधारानी उनकी प्रेमास्पदा हैं और उनको सुखी करनेके लिये ही श्रीकृष्णकी प्रेमलीला होती है। इस प्रकार दोनों परस्पर एक दूसरेको सुखी करते हुए और एक दूसरेके सुखसे अपने सुखकी वृद्धि करते हुए लीलामें संलग्न रहते हैं। श्रीगोपीजन इन्हीं श्रीकृष्णकी स्वरूपा शक्ति ह्लादिनीकी घनीभूत मूर्ति हैं। जो दिन-रात श्रीराधा-कृष्णके मिलन-सुखसे सुखका अनुभव करती हुई उनकी लीलामें संयुक्त रहती हैं। यह लीला अत्यन्त दिव्य है। श्रीराधा और श्रीकृष्ण दोनों ही प्रेमी हैं—दोनों ही प्रेमास्पद हैं, इसीसे भक्तकवि श्रीभगवतरसिकजीने एक पदमें कहा है—

परसपर दोउ चकोर दोउ चंदा।
दोउ चातक, दोउ स्वाति, दोउ घन, दोउ दामिनी अमंदा॥
दोउ अरबिंद, दोऊ अलि लंपट, दोउ लोहा, दोउ चुंबक।
दोउ आसिक महबूब दोउ मिलि, जुरे जुराफा अंबक॥
दोउ मेघ, दोउ मोर, दोउ मृग, दोउ राग-रस भीने।
दोउ मनि बिसद, दोउ बर पन्नग, दोउ बारि, दोउ मीने॥
भगवतरसिक बिहारिनि प्यारी, रसिक बिहारी प्यारे।
दोउ मुख देखि जियत अधरामृत पियत होत नहिं न्यारे॥

परंतु इन्हीं भगवतरसिकजीने ठीक ही कहा है—

'भगवतरसिक रसिककी बातें रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना॥'

यह सत्य है कि रासलीला आदिमें शृङ्गारका खुला वर्णन है और नायक-नायिकाओंकी भाँति चरित्रचित्रण है; परंतु उसके पढ़नेसे काम-वासना जाग्रत् होती है—यह बात ठीक नहीं है। रासपञ्चाध्यायीका पाठ तो हृद्रोग—कामका नाश करनेवाला माना गया है और है भी यही बात। हाँ, उनकी बात दूसरी है जो भगवद्भावहीन हैं और उनके लिये रासलीलाका पढ़ना उचित भी नहीं है। यही तो अधिकारीभेदका रहस्य है। मेरी समझसे इस शृङ्गार और नायक-नायिकाकी लीलामें कुछ भी दोष नहीं है।

स्वयं समग्र ब्रह्म, पुरुषोत्तम, सर्वान्तर्यामी, सर्वलोक-महेश्वर, सर्वात्मा, सर्वाधिपति, अखिल विश्वब्रह्माण्डके एकमात्र आधार, तमाम विश्वसमष्टिको अपने एक अंशमात्रसे धारण करनेवाले, सच्चिदानन्दविग्रह श्रीभगवान् तो गोपीनाथस्वरूपसे इस रसके नायक हैं और उपर्युक्त ह्लादिनी शक्तिकी घनीभूत मूर्ति—तत्त्वतः अभिन्नरूपा श्रीगोपीजन नायिका हैं। इनकी वह लीला भी सच्चिदानन्दमयी, अत्यन्त विलक्षण और हमलोगोंके प्राकृत मन, बुद्धिके सर्वथा अगोचर, दिव्य और अप्राकृत है; परंतु यदि थोड़ी देरके लिये यह भी मान लें कि इस लीलामें मिलन-विलासादिरूप शृङ्गारका ही रसास्वादन हुआ था, तो भी इसमें तत्त्वतः कोई दोष नहीं आता। अत्यन्त मधुर मिश्रीकी कटु तूँबीके शकलकी कोई आकृति गढ़ी जाय जो देखनेमें ठीक तूँबी-सी मालूम होती हो, परंतु इससे वह तूँबी क्या कड़ुवी होती है? अथवा क्या उसमें मिश्रीके स्वभावगुणका अभाव हो जाता है? बल्कि वह और भी लीला-चमत्कारकी बात होती है। लोग उसे खारी तूँबी समझते हैं, होती है वह मीठी मिश्री। इसी प्रकार सच्चिदानन्दघनमूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी अभिन्नस्वरूपा ह्लादिनीशक्तिकी घनीभूत मूर्ति श्रीगोपीजनोंकी कोई भी लीला कैसी भी क्यों न हो, उसमें लौकिक कामका कड़ुवा आस्वादन है ही नहीं! वहाँ तो नित्य दिव्य सच्चिदानन्दरस है। जहाँ मलिना माया ही नहीं है, वहाँ मायासे उत्पन्न कामकी कल्पना कैसे की जा सकती है? कामका नाश तो इससे बहुत नीचे स्तरमें ही हो जाता है। हाँ, इसकी कोई नकल करने जाता है, तो वह अवश्य पाप करता है। श्रीभगवान्की नकल कोई नहीं कर

सकता। मायिक पदार्थोंके द्वारा अमायिकका अनुकरण या अभिनय नहीं हो सकता। कड़ुवी तूँबीके फलसे चाहे जैसी मिठाई बनायी जाय और देखनेमें वह चाहे जितनी भी सुन्दर हो, परंतु उसका कड़ुवापन नहीं जा सकता। इसीलिये जिन्होंने श्रीकृष्णकी रासलीलाकी नकल करके नायक-नायिकाका रसास्वादन करना चाहा है या जो चाहते हैं वे तो डूबे हैं और डूबेंगे ही। श्रीकृष्णका अनुकरण तो सब बातोंमें केवल श्रीकृष्ण ही कर सकते हैं!

हाँ, आपका यह प्रश्न विचारणीय अवश्य है कि 'फिर भगवान् लोकसंग्रहके आदर्श कैसे माने जा सकते हैं?' इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो किसीके बचपनके कार्य लोकसंग्रहके आदर्श हुआ नहीं करते। संसारके बहुत बड़े-बड़े आदर्श महात्माओंके बचपनके कार्य भी महात्माओंके योग्य ही हुए हैं, ऐसी बात नहीं है। व्रजलीला ११ वर्षकी उम्रके पहले ही समाप्त हो जाती है। दूसरे, यह रहस्य है कि व्रजलीलामें यह गोपीलीला अत्यन्त गोपनीय वस्तु है। इसका साक्षात्कार तो श्रीभगवान् और उनकी अन्तरङ्ग शक्तियोंको ही होता है। अन्य किसीका इसमें प्रवेश ही नहीं है। यह लीला न तो लोकालयमें होती है और न लोकसंग्रह इसका उद्देश्य ही है। यह तो बहुत ऊपर उठे हुए महात्माओंके अनुभव-राज्यमें होनेवाली अप्राकृत लीला है। इसका बाह्य लोकसंग्रहसे कोई सम्बन्ध नहीं। व्रजमें भी इस लीलाको प्रायः कोई नहीं जानते थे। बाहरवालोंकी तो बात ही क्या है, गोपोंने तो अपनी-अपनी पत्नियोंको अपने पास सोये हुए देखा था।

'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्
स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥'

ब्रह्मादि देवता केवल—मण्डपके अन्दर होनेवाले कार्यको न देखकर, बाहरसे मण्डपकी शोभा देखकर ही मुग्ध और चकित होनेवाले लोगोंकी भाँति बाह्यभावको देख-देखकर चकित हो रहे थे। भगवान् शंकर और नारदको तथा किसी कालमें अर्जुनको गोपीभावकी प्राप्ति होनेपर ही इस लीलाके दर्शन हुए थे। इसीलिये शिशुपालने भगवान्‌पर गालियोंकी बौछार करते समय कहीं गोपीलीलाका संकेत भी नहीं किया। अगर उसे पता होता तो वह इस विषयमें चुप न रहता। इसका यह तात्पर्य नहीं समझना चाहिये कि यह लीला हुई ही नहीं थी! महाभारतमें ही द्रौपदीने अपनी आर्तपुकारमें श्रीभगवान्‌को 'गोपीजनप्रिय' कहकर पुकारा है। द्रौपदी अन्तरङ्ग भक्त थीं, इससे उनको इस रहस्यका कुछ पता था। अतएव लोकसंग्रहसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। तब लोकसंग्रहके आदर्शमें कोई बाधा कैसे आ सकती है? यह तो साधारण लोककी बात है, जो अन्तरङ्ग साधक हैं उनके लोकके लिये तो यही लोकसंग्रहका आदर्श है।

गोपियोंके चित्तमें वंशीध्वनि सुनकर काम (अनङ्ग)-की वृद्धि हुई थी, यह बात सचमुच भागवतमें ही है और यह सत्य है, परंतु ऊपर कहा ही जा चुका है कि वह काम हमलोगोंका दूषित काम नहीं था। प्रेम भी अङ्गरहित ही होता है। गोपियोंका यह 'काम'—श्रीकृष्णविषयक प्रेम था—नित्यसिद्ध प्रेम था, जो वंशीकी ध्वनि सुनते ही प्रबल हो उठा और जिसने गोपीजनोंको प्रेममें बावली बनाकर श्रीभगवान्‌की ओर तत्क्षण ही प्रेरित कर दिया। भगवान् उनकी प्रेमसेवा स्वीकार करनेके लिये ही यमुनापुलिनपर उपस्थित थे। वंशीकी मोहिनी ध्वनिसे आवाहन करके उन्होंने गोपीजनोंको अपने निकट बुला लिया। यही प्रेमी भक्त और भगवान्‌की प्रेमलीला है। इसमें कामकी कहीं गन्ध भी नहीं है।

रही कवियोंकी बात, सो मेरी समझसे कवि तीन श्रेणियोंमें बाँटे जा सकते हैं। (१) वे भक्तकवि जिन्होंने लीलाका प्रत्यक्ष किया; (२) वे कवि जिन्होंने लीलापर विश्वास करके श्रद्धा, भक्ति और पवित्रभावसे व्रजलीलाकी रचना की है और (३) वे शृङ्गारी कवि जो पवित्र या अपवित्र भावसे भी शृङ्गारका वर्णन करनेके लिये श्रीकृष्ण और श्रीराधारानी या गोपीजनोंको नायक-नायिकाके स्थानमें बैठाकर काव्यरचना करते हैं। नाम बतलानेकी और कौन किस श्रेणीमें है, यह निर्णय करनेकी मेरी सामर्थ्य नहीं। किसके मनमें क्या था, कौन जान सकता है? हाँ, श्रीसूरदासजी, तुलसीदासजी, नन्ददासजी आदि भक्तकवियोंके प्रति मेरी श्रद्धा है और उन्होंने जो कुछ कहा है, अत्यन्त पवित्रभावसे कहा है—यह मेरा विश्वास है। तुलसीदासजी यद्यपि श्रीरामभक्त थे, इसलिये यह आवश्यक नहीं कि वे श्रीकृष्णचरित्रका वर्णन करते ही, तथापि उन्होंने श्रीकृष्ण-गीतावलीमें श्रीकृष्णकी बाललीलाओंका संक्षेपमें बड़ा ही मधुर वर्णन किया है।

अब आपके अन्तिम प्रश्नका उत्तर देना है—यद्यपि इसका उत्तर देनेमें बड़ा ही संकोच है, परंतु आपने शपथ दिलाकर सत्य पूछा है, इसलिये यह कहना पड़ता है कि मैंने अपने विश्वासकी जो बातें ऊपर लिखी हैं, ये केवल पढ़ी-सुनी हुई ही नहीं हैं। इनके माननेका कोई ऐसा भी कारण अवश्य है—जिसपर कम-से-कम मैं अपने लिये कभी अविश्वास नहीं कर सकता। वह कारण क्या है, यह मैं बतलाना नहीं चाहता। न मेरा यही आग्रह है कि मैंने जो कुछ लिखा है उसे आप मान लें। श्रीभगवान् सभी रूपोंमें हैं। आपको श्रीभगवान्‌का जो रूप प्रिय और उज्ज्वल प्रतीत होता है, आपके लिये वही ठीक है, आप उसीकी उपासना कीजिये। मेरा तो इतना ही निवेदन है कि दूसरे रूपोंकी बाबत कटु और हेय आलोचना मत कीजिये। यदि करनी ही हो तो मेरी तुच्छ सम्मतिके अनुसार बहुत ही मर्यादाके अन्दर रहकर करनी चाहिये। हिन्दू सम्प्रदायोंकी तो बात ही क्या—ईसाई, मुसलमान, पारसी आदिके भी वही एक भगवान् हैं, जो हमारे हैं। हमारे ही भगवान्‌की वे विभिन्न रूपोंमें उपासना करते हैं। अतएव भगवान्‌के किसी भी रूपका खण्डन नहीं करना चाहिये।

× × × ×

पत्र बहुत लम्बा हो गया है। तत्त्व क्या है, यह मैं पूरा जानता नहीं। जो कुछ जानता हूँ वह मनमें सदा जाग्रत् नहीं रहता और जितनी बातें मनमें आती हैं, उतनी शब्द, भाव, समय आदिके संकोच और अन्यान्य कारणोंसे लिखी नहीं जा सकतीं। आशा है आप क्षमा करेंगे।

(२)

सब भगवान्‌की पूजाके लिये हो

भाई साहब! श्रीभगवान्‌को छोड़कर संसारमें सभी कुछ दुःखमय है। यहाँ जो सुख दीखता है, वह यदि वास्तविक है तो भगवान्‌के सुख-समुद्रका कोई एक कणमात्र है। और यदि वास्तविक नहीं है तो सुखके रूपमें दुःख ही सामने आ रहा है। उसका रूप वैसे ही छिपा है, जैसे किसीके विनाशके लिये बनायी हुई मिठाईमें विष छिपा रहता है।

श्रीभगवान्‌के सम्बन्धसे ही सबका सम्बन्ध है, श्रीभगवान्‌के प्रियत्वसे ही सबमें प्रियभाव है। भगवान्‌के बिना तो यह जगत् भयंकर है। चारों ओरसे काटनेको दौड़ता है। ऐसे भगवत्-सम्बन्धरहित विषयोंमें जो ममत्व और सुखबुद्धि हो रही है, यही मोह है। भगवान्‌ने भोगोंको 'दुःखयोनि' दुःख उपजानेवाला बतलाया है। चाहे वे एक व्यक्तिके लिये हों या समस्त विश्वके लिये। जो मनुष्य अपने सुखके लिये भोगादि न चाहकर समष्टिके लिये चाहता है, वह अवश्य ही उदार और त्यागी है, परंतु वह भी है यथार्थमें भूलमें ही। भूलमें न होता तो 'दुःखयोनि' विषयोंमें उसे सुख दीखता ही कैसे? भोगोंसे वैराग्य हुए विना यथार्थ भगवत्प्रेमका सच्चा विकास नहीं होता। जबतक मनोभूमिमें विषयानुरागका गंदा कीचड़ भरा हुआ होता है, तबतक उसमें बोया हुआ प्रेमका बीज उगता नहीं। उगना तो दूर रहा, प्रेमका यथार्थ बीज वहाँ पहुँचता ही नहीं। चित्तभूमि जब वैराग्यके द्वारा शुद्ध हो जाती है, तभी उसमें भगवत्प्रेमका बीज बोया जा सकता है और तभी वह अंकुरित, पुष्पित और फलित होता है। परंतु इस वैराग्यका उदय भी अन्तःकरणकी शुद्धिकी अपेक्षा रखता है और वह होती है भजनसे। भजन ही अन्तःकरणके मलको जला डालनेवाली आग है। इसलिये भजन करना चाहिये और विचार तथा भगवत्प्रार्थनाके द्वारा भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न करते रहना चाहिये। जब भगवत्प्रेमकी झाँकी हो जायगी तब जगत्‌के सभी सुख नीरस, नाचीज़ और हेय लगने लगेंगे। फिर सहज ही उनसे मन हट जायगा। भक्तवर नागरीदासजी (किशनगढ़के भगवद्भक्त महाराज)-ने भगवत्प्रेमकी जरा-सी झाँकी होनेके बाद यह पद गाया है। इसमें अपने पहले जीवनके लिये कितना पश्चात्ताप किया है, देखिये—

किते दिन बिन बृंदाबन खोये।
योंही बृथा गये ते अब लौं राजस रंग समोये॥
छाँड़ि पुलिन फूलनकी सैया सूल सरनि सिर सोये।
भीजे रसिक अनन्य न दरसे, बिमुखनिके मुख जोये॥
हरि बिहारकी ठौरि रहे नहिं, अति अभाग्य बल बोये।
कलह सराय बसाय भठ्यारी, माया राँड़ बिगोये॥
इक रस ह्वाँके सुख, तजिकै ह्वाँ कबौं हँसे कबौं रोये।
कियौ न अपनो काज, पराये भार सीसपर ढोये॥
पायौ नहिं आनंद लेस मैं, सबै देस टकटोये।
नागरिदास बसै कुंजनमें, जब सब बिधि सुख भोये॥

यह है राजाके आनन्दका असली स्वरूप। परंतु

यह असली रूप देख पड़ता है—भोगोंके मायाजालसे छूटनेपर ही।

मेरा इससे यह मतलब नहीं है कि घर-बार छोड़कर कहीं चले जाना चाहिये। कोई कहीं भी जाय, जबतक मनमें राग (आसक्ति) है, तबतक फँसावट है ही। सबकी अपनी-अपनी अलग दुनिया है और अलग-अलग छोटे-बड़े क्षेत्र हैं। सम्राट् अपने बड़े भारी राज्यके कार्योंमें राग-द्वेष करता है, दूकानदार छोटी-सी दूकानदारीके सम्बन्धसे उतनी-सी दुनियामें और बच्चा खेलके खिलौनेमें। दुखी सभी हैं, रोना सभीको है—क्योंकि प्रतिकूलताके दर्शन सबको होते हैं, प्रतिकूलतामें ही दुःख और द्वेष है। इसीलिये घर न छोड़कर घरकी मालिकी छोड़नी चाहिये। अपने सब कुछपर श्रीभगवान्का अधिकार स्थापित करके भगवान्की पूजा करनेके लिये घरमें रहना चाहिये। घर भगवान्का पूजा-मन्दिर बने, हम पुजारी बनें। आसक्ति भगवान्में हो, घरमें नहीं; घरकी चीजें प्यारी हों तो इसीलिये कि वे भगवान्की हैं, भगवान्की पूजाके लिये हैं! पूजाके लिये न हों तो—

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥

× × ×

अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं॥

जैसे घर भगवान्का, वैसे ही यह सारा जगत् भगवान्का—बस, इसी नाते जगत्में रहना, जगत्के कार्य करना; प्यारे भगवान् जिस कार्यमें लगा दें उसीको करना। आसक्ति भगवान्में—कार्य भगवान्का। वे चाहे जगत्के विकासके रूपमें अपनी सेवा करावें या विनाशके रूपमें। याद रखनेकी इतनी ही बात है—भोगोंमें सुख नहीं, सुख एकमात्र भगवान्में है। जगत् भोगोंसे सुखी होगा, यह भ्रान्त धारणा है, सुखी होगा भगवान्से। चाहे भोग न रहें—उनकी पूजाके लिये रहें और वे रखना चाहें तो वह भी उत्तम है—असलमें सेवा भगवान्की करनी है, भोगोंकी नहीं। भोगोंसे भगवान्को रिझाना है, भगवान्से भोगोंको पाना नहीं!

इसलिये मुझे तो बस, आप बड़े हैं, यही आशीर्वाद दीजिये कि भगवान्के चरणोंमें अपनेको निवेदन कर सकूँ और उनके इङ्गितके अनुसार कार्य करता हुआ उनके नामका स्मरण करता रहूँ।

(३)

विपत्तिनाशका उपाय

भगवान्का भेजा हुआ जैसा भी समय आवे, सिर चढ़ाकर भगवान्को याद करते हुए हिम्मत तथा संतोषके साथ उसे निभाना चाहिये। विपत्तिमें घबड़ानेसे विपत्ति बढ़ती है। विपत्तिकी परवा न करके भगवान्की कृपाके भरोसे अध्यवसाय करनेसे विपत्ति नष्ट हो जाती है। भविष्यको निराशामय देखना तो भगवान्पर अविश्वास करना है। इसलिये बहुत प्रसन्न रहियेगा। भगवान्की कृपापर विश्वास रखियेगा।

(४)

भगवत्कृपापर विश्वास

………से कहिये घबड़ावे नहीं। घबड़ाना तो भगवान्की दयापर अविश्वास करना है। वे परम मङ्गलमय हैं। वे जो कुछ करते हैं, परम कल्याण ही करते हैं। हमलोग असलमें भगवान्की कृपा नहीं चाहते। भगवान्की व्यवस्थाको—जो सर्वथा, सर्वदा हमारा कल्याण करनेवाली ही है (चाहे कड़वी दवाके समान कभी-कभी खारी भले ही लगे)—स्वीकार नहीं करते। हम चाहते हैं—अपनी बुद्धिमें जची हुई अनुकूलताको, जो समय-समयपर हमारा अमङ्गल करनेवाली होती है।

हम भगवान्की कृपाका जो अंश हमें अनुकूल दीखता है, उतनेहीको चाहते हैं, इसीसे उनकी पूर्ण कृपासे वञ्चित रह जाते हैं। ………को क्या, सभीको यही रोग है। इसीसे इतनी पीड़ा है। यह पीड़ा अपनी ही भूलसे पैदा की हुई है। श्रीभगवान्पर विश्वास रखकर उनका नाम-जप करना चाहिये और उनकी कृपापर भरोसा करके अपनेको सर्वतोभावसे उन्हींपर छोड़ देना चाहिये। ऐसा न हो सके तो भी नाम-जप ही करना चाहिये। जैसा भाव हो, उसीसे कल्याण होगा—आंशिक कृपाके दर्शन होंगे और सांसारिक वासनाएँ किसी अंशमें पूर्ण होंगी। परंतु इसमें घाटा यही रह जायगा कि शीघ्र ही भगवत्प्रेमकी प्राप्ति नहीं होगी।

× × × ×

………से कहना चाहिये—जितना बने; नाम-जप बढ़ावें। नाना प्रकारकी मानसिक चञ्चलतासे जप नहीं हो पाता, इससे घबरावें नहीं। विश्वास करके नियमपूर्वक अधिक जप करनेकी चेष्टा करें।



कृपानुभूति

हनुमानबाहुकके पाठसे भगवद्दर्शन

श्रीहनुमन्तलालजीका अपने भक्तोंपर कितना अधिक स्नेह है, इसका वर्णन वर्णों और वाणीद्वारा असम्भव है। फिर भी उनकी कृपाको स्मरण करनेके उद्देश्यसे अपने जीवनमें घटी एक सत्य घटनाका सन्दर्भ यहाँ दिया जा रहा है। गोस्वामी तुलसीदासजीद्वारा रचित 'हनुमानबाहुक' ग्रन्थ अनन्त शक्तिका अमोघ पुञ्ज है, जो कलेवरमें प्रायः कुल ४४ छन्दोंका है, रोग-निवारणकी अमोघशक्ति यह अपनेमें समाहित किये हुए है। इसीलिये तो गोस्वामीजीने विनय-पत्रिकामें हनुमान्‌जीकी स्तुतिमें लिखा है—

'ईति-अति-भीति-ग्रह-प्रेत-चौरानल-व्याधिबाधा-शमन घोर मारी।'

सन् २००० ई०में हमारे साथ सरकारी सेवामें नियुक्त एक शुक्लजी थे, जो अत्यन्त अक्खड़ मिजाजके प्रतीत होते थे, परंतु बादमें ज्ञात हुआ कि वे अत्यन्त सीधे-सादे, किंतु स्वच्छन्द विचारके व्यक्ति हैं और सज्जनोंका बड़ा आदर करनेवाले हैं। एक दिन मैं कुछ लोगोंकी भीड़ अपने कार्यस्थलके पास देखकर कौतूहलवश वहाँ गया। देखा तो श्रीशुक्लजी बेहोश पड़े हैं और उनके मुँहसे झाग निकल रहा है।

आनन-फाननमें लोग गाड़ीमें उन्हें लादकर अस्पताल ले गये। पुनः दूसरे दिन वे मुझसे मिले तो पूछनेपर बड़ी वेदनामयी मुद्रामें बोले कि क्या करूँ भैया! ये मिर्गीका रोग हमको मार कर ही दम लेगा। जब देखो तब बेहोश हो जाता हूँ। तब मैंने आश्वासन देते हुए कहा—'मित्र! इसमें चिन्ताकी क्या बात है? दूसरे ही दिन ठीक भी तो हो जाते हो।' शायद हनुमान्‌जीकी कृपा ही थी कि वे मेरे इस कथनसे नाराज नहीं हुए बल्कि आगे बोले—'हाँ, दवा आदि लेनेसे दो-चार दिनमें ठीक तो हो जाता हूँ, लेकिन हर बार इतनी कमजोरी आ जाती है कि सालोंका खाया-पिया एक ही बारमें शरीरसे जैसे निकल जाता है, और मिर्गीका यह दौरा है कि इस महीने तो तीसरी बार आ गया है। मित्र! मैं ठीक नहीं हो सकता हूँ, बहुत दवा करा चुका, परंतु मर्ज घटनेके बजाय बढ़ता ही जा रहा है।' मुझे उनकी वेदनासे बड़ा दुःख हुआ। तब मैंने उनसे कहा—'क्या आप ठीक होना चाहते हैं? वे बोले कि इसमें चाहे हमारे जीवनकी सारी कमाईका पैसा लग जाय, लेकिन मैं ठीक हो जाऊँ, मगर कैसे सम्भव है! मैंने कहा—'भई! पैसा तो एक नहीं लगेगा और आपके ठीक होनेका मैं पूरा विश्वास दिलाता हूँ, हनुमान्‌जीकी कृपासे क्या नहीं हो सकता है। लेकिन सुबह आपको दस मिनटका एक पाठ करना होगा। यदि करना हो तो बोलो। आपके ऊपर है। सोच लो।' मन-ही-मन मैंने हनुमान्‌जीका ध्यान किया और हनुमान्‌जीसे कहा—प्रभो! मैं गलती कर रहा हूँ। नाम तो आपका है, लेकिन विश्वास मैं दिला रहा हूँ। सब आपकी ही कृपा है। नाथ! आप अपने विरदकी रक्षा करना, उसी विरदके भरोसे ही मैंने इन्हें ठीक हो जानेका आश्वासन दे दिया है। अब आप जैसा ठीक समझें, वैसा करें।' मेरी दृढ़ता देखकर शुक्लजी भी कुछ आश्वस्त-से हुए, वे बोले—'जैसा आप कहेंगे मैं वैसा ही करूँगा।'

संयोगसे दूसरे ही दिन मंगलवार था। मैंने श्रीशुक्लजीसे कहा—'कल मंगलवार है, आप सुबह स्नानादिके उपरान्त हनुमान्‌जीका यदि चित्र न हो तो मनमें ही ध्यान करके श्रीहनुमन्तलालजीसे आरोग्यलाभकी प्रार्थना करना और फिर हनुमानबाहुकका पाठ करना, प्रतिदिन तबतक पाठ करना, जबतक ठीक न हो जाओ। कुछ ही दिनोंमें आपको लगेगा कि रोग ठीक हो रहा है।' इसपर शुक्लजी सहमत हो गये। मैंने उसी दिन उन्हें अपने पास रखी गीताप्रेस, गोरखपुरकी छपी 'हनुमानबाहुक'की एक प्रति उपलब्ध करा दी।

इसी बीच उनका स्थानान्तरण अलीगढ़ हो गया। मुझे इसकी भनक भी न मिल पायी। तीन-चार वर्ष गुजर भी गये। मैं लखनऊ विश्वविद्यालयके गेटपर बैठा एक मित्रसे बात कर ही रहा था कि बगलसे पुलिसकी गाड़ी गुजरी, जिसका मुझे कोई ध्यान ही नहीं था; क्योंकि मैं तो मित्रमण्डलीमें व्यस्त था, लेकिन अचानक कानोंमें पड़ी आवाज 'गुरुजीकी जय हो' (बार-बार)-पर ध्यान गया तो कुछ कारण समझमें ही नहीं आया। फिर गाड़ी रुकी तो उसमेंसे पुलिस-वर्दी धारण किये श्रीशुक्लजी तुरन्त कूदकर उधर ही लपके, जिधर हमलोग बैठे थे। उनके पीछे चार-छः उसी वेश-भूषावाले पुलिसजन और थे। मैंने कहा शुक्लजी क्या बात है भाई? तुरन्त वे कहने लगे—'आपके बताये हुए 'हनुमानबाहुक'के पाठसे मैं पंद्रह दिनमें ठीक हो गया।' मुझे तो यह सुनकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ और धीरे-धीरे सारे पुराने दृश्य मेरे सामने आते गये। उन्होंने संक्षिप्त रूपमें उपस्थित लोगोंको सारी विगत सत्यकथा बता डाली। शुक्लजीने यह भी बताया कि जब उन्होंने सोमवारको रात्रिमें हनुमानबाहुक-पाठका संकल्प लिया था तो उसी रात्रिमें भक्तवत्सल परम कृपालु श्रीहनुमन्तजीने स्वप्नमें दर्शन भी दिया और रोगमुक्त होनेका आश्वासन भी दिया था। तीस सालसे पीछा न छोड़नेवाले कालकी छायाके समान लगा रोग महाबली हनुमन्तलालके स्मरणमात्रसे सदाके लिये दूर हो गया।

उस दिन रात्रिमें जब मेरे घरके सभी लोग सो गये तो सोनेसे पूर्व उपर्युक्त घटनाको याद करके मैं अपने ऊपर भगवान्‌की विशेष कृपाका खयाल कर रोने लगा। कहने लगा—'प्रभो! मैंने तो शुक्लजीको सिर्फ व्याधि ठीक होनेका मार्ग बतलाया था और आपने रोग तो ठीक किया ही, दर्शन भी दे दिये और फिर उन्हें हमेशाके लिये अपना भक्त भी बना लिया। हे नाथ! आपकी दयालुता एवं करुणा को हम तुच्छ जन समझ नहीं पाते? यही सोचते-कहते मुझे कब नींद आयी, याद नहीं।—**दिनेशकुमार मिश्र 'स्नेही'**

पढ़ो, समझो और करो

(१)

देर है अंधेर नहीं

कभी-कभी हमारे जीवनमें ऐसी घटनाएँ घटित हो जाती हैं कि उस सर्वोपरि शक्तिपर हमारा विश्वास और भी दृढ़ हो जाता है। यूँ तो मेरे जीवनकी कई घटनाएँ ईश्वरकृपासे जुड़ी हैं, परंतु इस घटनाने न केवल मुझे अपितु मेरे जाननेवाले सभीको सर्वोपरि शक्तिपर विश्वास करनेके लिये मजबूर कर दिया। घटना इस प्रकार है—

मेरी शादी हुए २३ वर्ष बीत गये थे, भगवत्कृपासे सभी कुछ आनन्द है, परंतु हमारा परिवार संततिसुखसे वंचित था। मेरे पति अपने घरके एकलौते पुत्र हैं, अत: संतान न होनेसे सभी चिन्तित एवं परेशान थे। इसके लिये जिसने जो भी राय दी एवं जहाँ भी इलाज करवानेके लिये कहा, हम सभी जगह गये। इसमें लाखों रुपये भी खर्च हो गये, परंतु कहीं कोई लाभ नहीं हुआ। आश्चर्यकी बात तो यह थी कि प्रत्येक जगह हम दोनोंकी जाँचें होतीं तो उसके परिणाम सकारात्मक ही आते। इससे चिकित्सक भी कुछ न समझ पाते, अत: हर जगह निराशा ही हाथ लगती। अन्तमें थक-हारके हम इलाजहेतु नासिक गये। वहाँके डॉक्टरने तो यहाँतक कह दिया कि समय बहुत निकल चुका है, अत: आगे संतान होना कठिन है, आप व्यर्थमें परेशान न हों; क्योंकि इसका कोई इलाज नहीं है। डॉक्टरकी राय सुनकर हम अत्यन्त निराश होकर वापस चले आये।

मुझे भगवान्‌पर बहुत विश्वास है, मैं हमेशा पूजा-पाठ करती हूँ। मेरे पति एवं माँने मुझे ढांढस बँधाते हुए कहा कि तुम तो इतना पूजा-पाठ करती हो, भरोसा रखो। अगर दुनियामें इलाज नहीं है तो दुनिया बनानेवालेके हाथमें तो है, उन्हींसे प्रार्थना करो। वे अवश्य ही कोई रास्ता निकालेंगे। मेरी सास माँने मेरे अंदर भगवान्‌के प्रति मेरी आस्थाको और भी दृढ़ कर दिया। अब मैंने भगवान्‌के ऊपर सब कुछ छोड़ दिया। श्रीरामचरितमानसपर मुझे अथाह श्रद्धा है। इसका कारण निश्चितरूपसे 'कल्याण'-जैसी अद्वितीय पत्रिका एवं मेरी माँ हैं, जिन्होंने श्रीरामचरितमानसकी सिद्ध चौपाइयोंके विषयमें बताया था। 'कल्याण' पत्रिकाके एक लेखमें संतानसुखके लिये एक दोहा—'*प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान। सुत सनेह बस माता बालचरित कर गान॥*'—लिखा था, इसको मैंने अवलम्ब मानकर उसमें दिये हुए नियमसे श्रद्धापूर्वक पाठ आरम्भ कर दिया। इस मन्त्रको हवनकी सामग्री और माला लेकर सिद्ध करना था। एक सौ आठ बार मन्त्रोच्चारणके साथ प्रतिदिन मैं हवन करती रही। केवल चार महीनेमें ही इस जपसे चमत्कार हो गया।

भगवान्‌ने हमारे वंशमें दीपक जलाकर सभीका दामन खुशियोंसे भर दिया। हम सभीके लिये जीवनमें यह बड़ा सौभाग्यशाली दिन था। इतने सालों बाद भगवत्-चमत्कार देखनेको मिला। भगवान् सच्ची पुकार अवश्य सुनते हैं। जो सच्चे मनसे उन्हें पुकारते हैं, वे केवल लौकिक सुख ही नहीं, अपितु भगवान्‌को भी प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण गीताजीके १४वें अध्यायमें स्वयं कहते हैं कि बीज देनेवाला पिता मैं ही हूँ तो 'बीजमन्त्र' पढ़ते-पढ़ते भगवान्‌ने सचमुच ही 'बीज' बो दिया और अपना काम बना दिया। यह सब प्रभुकी कृपासे ही सम्भव हो पाया। प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं जाती।

इस कलियुगमें जब ऐसी आश्चर्यजनक घटनाएँ घट जाती हैं तो बरबस ही मुखसे निकल पड़ता है 'भगवान्‌के घरमें देर है अंधेर नहीं'।—**सौ० पद्मा भ० चाण्डक**

(२)

भगवल्लीला

बात ७ मार्च सन् १९९९ की है। मेरे पड़ोसमें एक लड़कीकी शादी होनी थी, कई जगह लड़के देखे, मगर कहीं बात नहीं बनी। एक-दो बार लड़कीको देखकर भी लड़केवाले यह कहकर चले जाते थे कि घर जाकर जवाब देंगे। फिर एक जगह बात चलायी और लड़केवालोंसे कहा कि हम घरपर नहीं दिखायेंगे। उन्होंने कहा—ठीक है जहाँ आपको सुविधा हो, आप वहीं दिखायें, हमें कोई एतराज नहीं है। शहरमें ही उनके एक परिचित थे, वहींपर प्रोग्राम

रखा। लड़की साधारण रूप-रंगवाली थी, मगर अच्छी पढ़ी-लिखी थी। लड़केवालोंको लड़की पसंद आ गयी और सभी रस्में पूरी भी हो गयीं। लेकिन एक रस्म बाकी थी—लड़केवालोंको विदा करना। पैसोंका अभाव था और रस्म भी पूरी होनी थी, भाई बालक था, माँ विधवा। लड़कीके पिताकी हृदयगति रुक जानेके कारण असमय मृत्यु हो गयी थी, लड़कीकी माँकी आँखोंमें आँसू थे। सब ओरसे अपनेको निराश मानकर वह परमात्म-प्रभुसे अपनी लाज रखनेकी गुहार कर रही थी। तभी अचानक एक गाड़ी दरवाजेपर आकर रुकी, उसमेंसे एक अतिसम्पन्न व्यक्ति उतरे, उन्हें देखकर सभी आश्चर्यचकित थे कि अरे! ये कौन आये हैं? वे सज्जन पास आये और कहने लगे—हमें भी तो बताओ कि यहाँ क्या हो रहा है अथवा केवल हमारे बारेमें ही पूछते रहोगे? इसपर उन्हें सब बातें विस्तारसे बतायी गयीं तो उन्हें समझते देर नहीं लगी कि ये तो मेरे रिश्तेमें जो भाई लगते हैं उन्हींकी यह बेटी है। लड़कीकी माँने उन्हें पहचान लिया और वे बोलीं—अरे! ये तो आस्ट्रेलियावाले चाचा हैं। एक बार गये तो वापस नहीं आये। उन्हें आज अचानक आया देखकर बड़ी हैरानी हुई। तभी उन सज्जनने पाकेटसे नोटोंकी गड्डियाँ निकालीं और लड़केवालोंको सम्मानके साथ लिफाफे देकर विदा किया। फिर वे वहीं रुके रहे। ११ मार्चकी शादी तय हुई, फेरोंके समय उन्होंने कन्यादान किया। फिर बोले—अच्छा, अब हम चलते हैं हमारी फ्लाइटका समय हो गया है। उनकी जाती हुई गाड़ी देखकर सभी यह सोच रहे थे कि ये चाचाके रूपमें पिता हैं या भगवान्; क्योंकि चाचा बीस वर्षोंमें कभी नहीं आये, न उस घटनाके बाद कभी फोन ही आया। आज उस लड़कीके पास एक बेटी है, गाजियाबादमें अपनी गृहस्थी है। भगवान्की ऐसी लीलाको बारम्बार प्रणाम है।—**शिक्षा शर्मा**

(३)

सुन्दरकाण्डके पाठ एवं भजनसे सद्गति

भौतिक जगत्की अपनी सत्ता है और अलौकिक जगत्की अपनी। भौतिक जगत्के तार यदि भजन एवं सुन्दरकाण्डके माध्यमसे अलौकिक जगत्से जुड़ जायँ तो भगवत्कृपाकी जो सुखद अनुभूति होती है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

मनुष्यके जीवनमें अप्रत्याशित और अनायास कुछ-न-कुछ घटता रहता है, वह मनुष्यका अपना ही प्रारब्ध होता है। व्यक्तिके जीवनमें कुछ अनुभव ऐसे होते हैं कि वे उसे सदाके लिये याद हो जाते हैं। ऐसा ही एक अनुभव यहाँ प्रस्तुत है—

अलकापुरी रतलाम निवासी श्रीरणछोड़लालजी बरानिया विगत आठ वर्षोंसे लकवा-जैसी बीमारीसे पीड़ित होकर पूर्णतया बिस्तरपर थे, यहाँतक कि उनका उठना-बैठना भी परिजनोंपर निर्भर था। हर कोई उनकी अवस्था, बीमारी और पीड़ाको देखकर यही कहता कि हे ईश्वर! तू इनपर दया कर, इनकी पीड़ा दूर कर दे या फिर इन्हें अपने चरणोंमें जगह दे। परिजनोंने उनके इलाज एवं सेवामें कभी कोई त्रुटि नहीं बरती। उनके पुत्र-पौत्र आदि सभी अन्तिम क्षणोंतक उनकी सेवा तथा पूर्ण देखभाल कर रह थे। लेकिन जब इलाज लाइलाज हो जाय तो आशा निराशामें बदल जाती है। व्यक्तिका पुरुषार्थ जब असफल हो जाता है तो ऐसे क्षणोंमें इंसानको अपने परमप्रिय परमात्माका ही द्वार दिखायी पड़ता है। उसे प्रार्थना, भक्ति, भजन या उसको सर्मपित होनेवाले कार्य ही दिखायी देते हैं।

बरानियाजीके बड़े पुत्रको अन्तरात्मासे प्रेरणा हुई कि इन क्षणोंमें पिताजीको सुन्दरकाण्ड तथा भजन सुनाया जाय, इससे शान्ति मिलेगी। ऐसा निश्चयकर और आश्वस्त होकर उन्होंने अपने पारिवारिक मित्रों एवं पड़ोसी जनोंसे संकीर्तन-भजनका कार्यक्रम रखनेकी चर्चा की। यह बात सबको अच्छी लगी। निश्चित समयपर सुन्दरकाण्डका पाठ शुरू हुआ और भगवन्नाम-संकीर्तन, भगवद्भजन भी प्रारम्भ हो गया। कुछ भजन इतने मार्मिक, हृदयस्पर्शी एवं करुणरसमें डूबे हुए थे कि श्रीबरानियाकी आँखोंसे झर-झर आँसू बहने लगे। मुँहसे कुछ बोल पानेकी शक्ति और सामर्थ्य तो पहले ही जा चुकी थी। भजनोंका ऐसा प्रभाव हुआ कि वहाँ उपस्थित श्रोता भी रोने लगे, सभीके मनमें एक ही भावना, एक ही भाव था कि दयालु भगवान् इनपर दयाकर इन्हें अपनी शरणमें जगह दें। इन्हें अपने पास बुला लें या ठीक

कर दें। भक्तजनोंकी हृदयस्पर्शी एवं करुणामयी पुकार भगवान्‌के दरबारमें पहुँच चुकी थी। भक्तिका कार्यक्रम आठ-नौ दिनोंतक चलता रहा। इस बीच श्रीबरानियाजी बड़े मुग्ध होकर नाम-कीर्तन सुनते रहे। उनको देखकर लगता था कि उन्हें बड़ी शान्ति प्राप्त हो रही है। नाम-संकीर्तनसे पूर्व उनके चेहरेकी आभा फीकी-सी पड़ चुकी थी, किंतु जैसे-जैसे भजन-कीर्तन होता गया, उस पवित्र ध्वनिके श्रवणसे उनके चेहरेपर बड़ा तेज-जैसा दिखने लगा और वे बड़े ही तन्मय होकर प्रभुकीर्तनको सुनते थे एवं स्वयं भी भगवन्नाम लेनेकी चेष्टा करने लगे थे। अन्तमें आखिर इसी भगवन्नाम-सङ्कीर्तनकी पवित्र-ध्वनिका श्रवण करते-करते उनका शरीर शान्त हो गया। उनका मरण मङ्गलमय हो गया। अन्तकालका भगवन्नाम-स्मरण बड़े ही सौभाग्यसे प्राप्त होता है और वह बरानियाजीको प्राप्त हो गया। यह समझना चाहिये कि उनकी सद्गति हो गयी और उनपर विशेष भगवत्कृपा हो गयी। इस प्रकार दूसरेकी कल्याणकी भावनासे की गयी प्रभुप्रार्थना कभी निष्फल नहीं होती।—वासुदेव सोलंकी

(४)

भगवान् विश्वनाथकी कृपासे गाय और ब्राह्मणकी प्राणरक्षा

घटना दिनाङ्क २३ अप्रैल सन् २००६, रविवारकी उस समयकी है, जब भगवान् आशुतोषकी महान् कृपासे गाय और ब्राह्मणको जीवनदान मिला।

मेरे घरके आँगनमें सपरिवार भगवान् शिवका एक छोटा मन्दिर है। घरकी दीवारसे सटे हुए तीन आमके विशाल वृक्ष हैं। इन्हीं वृक्षोंकी छत्र-छायामें मैं परिवारसहित शिवजीकी कृपासे जीवन-निर्वाह करता हूँ। कल्याणके गोसेवासम्बन्धी कई लेख पढ़कर गोसेवामें मेरी दृढ़ आस्था बनी और मैंने भी गोपालन शुरू कर दिया, फिर तो घरमें अच्छा ही अच्छा होने लगा।

हमारे यहाँ गाय दुहनेके लिये यादव कार्तिक राम आया करता है, नित्यकी भाँति उस दिन भी गोदोहनकार्यके लिये भगवान् शिवके मन्दिरके समीप (टिनकी चादर एवं ऐंगलसे बने) शेडमें गोदोहन-कार्य पूर्ण कर वह चला गया। उस समय मैं चाय पी रहा था, अचानक उसी समय किसी चीजके गिरनेकी जोरकी आवाज सुनकर मैं तेजीसे बाहर निकला। देखता क्या हूँ कि रस्सीसे बँधी हुई गाय गिरकर छटपटा रही है! गायके बन्धन खोलनेके लिये जैसे मैं समीप गया, लोहेके ऐंगलका स्पर्श होते ही बिजलीके जबरदस्त करेंटका झटका लगनेसे मैं गिर गया। पूरी जमीनमें बिजलीका करेंट फैल चुका था। इसी भयानक करेंटके सम्पर्कमें आनेसे गाय प्राणरक्षाके लिये छटपटा रही थी। भगवान् महाकालेश्वरकी कृपासे बिजलीका तेज झटका लगनेके बाद भी मैं बच गया था, तब मैं जोरसे चिल्लाया। मेरी आवाज सुनकर पत्नी और बच्चे दौड़कर बाहर निकले और मेरे पास आने लगे।

मैंने उनसे कहा—लोहेके खम्भेको कोई मत छूना, सबमें करेंट फैला है। जल्दीसे मेरी तरफ हँसिया फेंको, जिससे मैं गायकी गेखा (बन्धनकी रस्सी) काट सकूँ। उन्होंने शीघ्रतासे मेरी तरफ हँसिया फेंकी। हँसिया लेकर हिम्मत कर मैंने गायकी रस्सी काट दी। बन्धन खुलते ही गाय लोहेके खम्भेसे पृथक् हो गयी। गाय एकदम काँप रही थी, उसके मुखसे लार गिरने लगी। व्याकुल हुई गाय सीढ़ीसे छतपर चढ़ गयी, ऐसा लगा जैसे छतसे छलांग लगा देगी। तब दौड़कर यादव कार्तिक रामने गायको हाँककर छतसे नीचे उतारा। भगवत्कृपासे बिजली चली गयी थी और करेन्ट आना भी बन्द हो गया था।

अचानक हुई इस भयानक दुर्घटनाके सम्बन्धमें मेरे पड़ोसी सुरेशकुमारने आकर मुझे बताया कि स्टेट बैंक लोरमीके पास ११ हजार वोल्टकी करेंटवाला तार टूटकर होमलाइटवाले तारमें चिपक गया था, जिसके कारण खम्भेमें लगे अर्थिंगवाले तारमें करेंट फैल गया था।

मेरे घरके आमके हरे वृक्षमें अर्थिंग तारके स्पर्श हो जानेसे लोहेके शेडमें करेंट फैल गया था, जिसके कारण गाय और मैं दुर्घटनाके शिकार हुए।

लेकिन भगवान् शिवशङ्करकी महान् कृपा एवं मेरी अम्माजीके किये गये व्रतोपवाससे हम दोनोंकी प्राणरक्षा हो गयी। मेरी माता और मैं दोनों स्वस्थ हैं। कोई शारीरिक चोट भी नहीं लगी। इसे मैं भगवान् विश्वनाथकी महान् कृपा समझता हूँ।—प्रवीणकुमार त्रिपाठी

मनन करने योग्य

(१)

सद्व्यवहारका शुभ परिणाम

मानमल और भैंरूदान मामा-फूआके सम्बन्धसे भाई थे। मानमल बहुत ही भोला था, पर उसके पास रुपये थे, भैंरूदान काममें बहुत होशियार था। दोनोंने हिस्सेदारीमें काम कर रखा था। मानमलकी पूँजी लगी थी और भैंरूदान काम सँभालते थे। दोनोंमें बड़ा प्रेम था। मानमलकी पूँजीकी ईमानदारीसे रक्षा करता हुआ भैंरूदान बड़ी निपुणतासे व्यापार चला रहा था। पर सारा काम वही सँभालता था, इससे दूकानमें उसीका महत्त्व था। मानमलका लड़का सोहनलाल इससे जलता था। वह भैंरूदानका मान नहीं सह पाता और उसे बदनाम करना चाहता था। भैंरूदानको इसका पता नहीं था। वह सोहनलालसे बच्चेकी तरह व्यवहार करता और उससे काममें सहायता लिया करता था। सोहनलालने एक दिन रोकड़से नौ सौ रुपये चुरा लिये और रुपये न मिलनेपर जब पूछताछ हुई तब मानमलसे उसने कह दिया कि 'मैंने देखा—चाचाजी रुपये निकालकर अपने घर ले गये थे।' मानमल भोले स्वभावका था। उसने इस बातपर विश्वास करके भैंरूदानको उलाहना दे दिया। और तो कुछ करनेका उसमें साहस ही नहीं था। भैंरूदानको दुःख तो हुआ, पर उसने न तो काम छोड़ा और न क्रोध ही किया। बुद्धिमान् था, सारा रहस्य उसकी समझमें आ गया। सोहनलालको इससे निराशा हुई, पर वह कुछ बोल नहीं सका। भैंरूदानने किसी तरह पता लगा लिया कि सोहनलालने रुपये लेकर अपनी पेटीमें रखे हैं। उस मूर्खने नौकरसे अपनी बहादुरी बता दी थी, उसीसे पता लग गया। एक दिन सोहनलाल बाहर गया हुआ था, पीछेसे भैंरूदानने मानमलसे कहा—'तुम बच्चेपर नाराज न होना, उसने नादानी की है, मुझे पता लग गया है, रुपये सोहनलालने निकालकर अपनी पेटीमें रखे हैं।' मानमलने कहा—'ऐसा नहीं हो सकता।' भैंरूदानने कहा—'चलो, उसकी पेटी खोलकर देख लो।' मानमल सरलहृदय था। भैंरूदानको साथ ले जाकर पेटी खोली, उसमें नौ सौ रुपये मिल गये। सोहनलालके आनेपर मानमलने उसे डाँटकर पूछा तो उसने स्वीकार कर लिया और वह रोने लगा। मानमल उसपर बहुत नाराज था। भैंरूदानने रोते हुए सोहनको गोदमें लेकर उसको प्यारसे समझाया और आश्वासन दिया। सोहनलालके हृदयमें कृतज्ञता पैदा हो गयी। सीधा तो था ही। सामयिक विकार आ गया था। भैंरूदान तबसे सोहनके साथ विशेष प्रेम तथा आदरका बर्ताव करने लगा। भैंरूदानके सद्व्यवहारसे सोहनलालके मनका सारा विकार दूर हो गया और वह उसका अनुगामी तथा आज्ञाकारी बन गया। यह सद्व्यवहारका फल है। *'मंद करत जो करइ भलाई'*।—चम्पालाल

(२)

अमूल्य-निधि

हमारे हेडमास्टर श्रीदेवराजजी, सदा ही माता-पिताकी सेवाका महत्त्व समझाते और सेवा करनेको कहते थे। इसी क्रममें उन्होंने एक दिन यह प्रसंग सुनाया था—

नेपोलियन बोनापार्ट फ्रांसीसी जनरल थे। उन्होंने अपनी डिक्शनरीसे 'असम्भव' शब्द काट दिया था। धीरे-धीरे उन्नति करते-करते वे फ्रांसीसी सेनाके जनरल बन गये थे। वे अत्यन्त गरीब परिवारके थे और उनके ऊपर पिताकी छाया भी नहीं थी, किंतु वे बड़े ही परिश्रमी थे।

एक दिन उनको सूचना मिली कि उनकी सेनापर शत्रु आक्रमण करनेवाला है। अतः उन्होंने उस नगरको खाली करनेका आदेश दिया। ऐसी घोषणा होते ही जनता नगर खाली करने लगी। लोग अपने कीमती सामानोंको बाँधकर सिरपर लादकर अन्यत्र जाने लगे। यह देखकर नेपोलियन बहुत चिन्तित हो रहे थे।

अन्तमें नेपोलियनने देखा कि एक हृष्ट-पुष्ट पहलवान व्यक्ति एक बड़ा-सा टोकरा अपने सिरपर लादे धीरे-धीरे चल रहा है। नेपोलियनने उस व्यक्तिको रोका और टोकरेको जमीनपर रखवाया। टोकरा कपड़ेसे ढक रखा था। नेपोलियनने उस व्यक्तिसे पूछा—'इस टोकरेमें क्या है?' पहलवानने उत्तर दिया—'इसमें मेरी सबसे अधिक मूल्यवान् दौलत है।' नेपोलियनने जब टोकरेका कपड़ा हटाया तो उनके पैरोंतले जमीन खिसक गयी। उस टोकरेमें पहलवानके वृद्ध एवं लाचार माता-पिता थे। इन्हीं माता-पिताने पहलवानको जन्म दिया था। इन्हींके कारण उस पहलवानने सैकड़ों दंगल जीते थे। आज यही उसकी अमूल्य दौलत थी, जिसको वह सुरक्षित स्थानमें ले जा रहा था।

नेपोलियनने जब इस वृद्ध, लाचार जोड़ेको देखा तो उनको अपने माता-पिताकी याद हो आयी और आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लग गयी। फिर उन दोनोंने मिलकर उस अद्भुत अमूल्य निधिको सुरक्षित स्थानपर पहुँचाया।

धन्य हैं वे लोग जिनको माता-पिताकी सेवाका मौका मिलता है। माता-पिता, गुरु, वृद्धजनोंकी सेवा प्रभुकी सेवासे बढ़कर होती है।—एन०आर०डोगरा

'अपने स्वरूपको पहचानें'

सोचो, तुम कौन हो? जिस शरीरको तुम 'मैं' समझते हो और कभी-कभी कहते भी हो, 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं बीमार हो गया, मैं स्वस्थ हूँ' आदि, वह शरीर ही क्या तुम हो? याद करो, लड़कपनमें यह शरीर कैसा था, जवानीमें इसका क्या स्वरूप था और अब बुढ़ापेमें इसका सारा ही रंग-रूप बदल गया। जिसने लड़कपनमें इसको देखा था, वह तो अब इसे पहचान ही नहीं सकता। कहाँ वे नन्हे-नन्हे कोमल हाथ-पैर, मोहन मुखड़ा, दूध-से दाँत, भौंरोंके रंग-से काले घुँघुराले बाल, और कहाँ आजका यह कुबड़ा शरीर, झुर्रियाँ पड़ी हुई चमड़ी, सफेद केश, चिपका मुँह, डरावनी सूरत। वह शरीर तो मर ही गया, उसका एक भी निशान अब नहीं है; ऐसे शरीर ही क्या तुम हो? नहीं, तुम यह नहीं हो, तुम तो वह हो जो इस शरीरकी बाल, युवा और वृद्ध—तीनों अवस्थाओंको समानरूपसे जानता है। शरीर बदल गया परंतु तुम नहीं बदले। शरीर जड़ है, तुम चेतन हो; शरीर बढ़ता है, तुम नहीं बढ़ते; शरीर क्षय होता है तुम जैसे-के-तैसे हो; शरीर पैदा होता है और नष्ट हो जाता है, तुम सदा ही रहते हो। फिर तुम क्यों अपनेको शरीर समझते हो और क्यों शरीरके मानापमान, सुख-दुःख और जन्म-मरणमें अपना अपमान, सुख-दुःख और जन्म-मरण मानते हो? क्यों, सचमुच यह तुम्हारी भूल है न? अच्छा बताओ, क्या तुम 'नाम' हो? नामकी पुकार सुनते ही सोतेमें बोल उठते हो, नामको कोई गाली देता है तो उसे सुनकर मारे शोकके रो उठते हो, मारे क्रोधके जलने लगते हो। परंतु सोचो तो सही, क्या वस्तुतः तुम नाम हो? जब तुम माँके गर्भमें थे, उस समय बताओ तुम्हारा क्या नाम था? जब तुम जन्मे उस समय क्या तुम्हारा यह नाम था, जिस नामको आज तुम अपना स्वरूप समझते हो? नहीं था! क्या मरनेके बाद जहाँ जाओगे, वहाँ यही नाम रहेगा? नहीं! फिर क्यों यह समझते हो कि मैं 'रामप्रसाद' हूँ? यह तो रखा हुआ कल्पित नाम है जो अनित्य है, चाहे जब बदला जा सकता है। फिर इस नामकी निन्दा-स्तुतिमें तुम क्यों अपनी निन्दा-स्तुति समझते हो और क्यों दुःख-सुखका अनुभव करते हो? यह भी तुम्हारा भ्रम ही है न?

अच्छा, क्या तुम आँख, कान, नाक, जीभ, चमड़ी, पैर आदि इन्द्रियोंमेंसे अपनेको कोई मानते हो? यदि ऐसा है तो बताओ आँखें फूट जानेसे, नाक कट जानेसे, कान बहरे हो जानेसे या हाथ-पैर टूट जानेसे क्या तुम मर जाते हो? नहीं; तो फिर तुम इन्द्रियाँ कैसे हुए? तुम तो इनको, इनकी चेष्टाओंको और इनकी अच्छी-बुरी हालतको देखने और जाननेवाले हो; फिर इन्द्रियको अपना स्वरूप मानना तुम्हारी गलती नहीं तो और क्या है?

ठीक, तुम अपनेको मन बतलाओगे! पर जरा सोचकर कहो, मनमें जब नाना प्रकारके विचार उठते हैं, तब तुम उनको जानते हो या नहीं? नहीं जानते, तो कहते कैसे हो कि 'मेरे मनमें अभी यह विचार आया था' और जानते हो तो यह निश्चय समझो कि जाननेवाला उस जानी हुई वस्तुसे अलग होता है। सुषुप्तिके समय मनका पता नहीं रहता, परंतु तुम तो वहाँ रहते ही हो; क्योंकि तुम जागकर कहते हो कि मैं सुखसे सोया था। मन जहाँ-तहाँ भटकता है, तुम अपनी जगह अचल बैठे सदा उसकी हरेक चालको देखा करते हो, उसकी प्रत्येक बातको जानते हो, इसलिये तुम मन नहीं हो, तुम तो उसके द्रष्टा हो—फिर अपनेको मन मानना तुम्हारी भ्रान्ति ही तो है!

तुम बुद्धि भी नहीं हो; मनकी चालकी तरह

बुद्धिकी भी प्रत्येक स्थितिको, उसके हरेक कार्यको और विकारको, उसकी नीचता-उच्चताको, अपवित्रता-पवित्रताको और उसके अच्छे-बुरे निर्णयको तुम जानते हो। उसमें ये सब बातें आती-जाती, बढ़ती-घटती रहती हैं, पर तुम सदा उसकी सारी हरकतोंको देखा ही करते हो। इसीसे कहा करते हो, 'मेरी बुद्धि उस समय बिगड़ गयी थी। सत्संगके प्रभावसे मेरी बुद्धिकी मलिनता जाती रही।' तब फिर तुम अपनेको बुद्धिका द्रष्टा न मानकर बुद्धि ही कैसे मानते हो? यह तुम्हारा भ्रम ही है!

तुम 'अहंकार' भी नहीं हो—आत्मामें स्थित होकर तुम यदि अपनेको 'मैं' कहते हो तो तब तो ठीक था, परंतु तुम तो देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके समूहमें 'मैं बुद्धि' करके अहंकार करते हो, वस्तुतः इस अहंकारके भी तुम द्रष्टा ही हो। इसीसे कहा करते हो 'मैंने भूलसे अहंकारके वश ऐसा कह दिया था।'

इसी प्रकार तुम प्राण भी नहीं हो, प्राणोंकी प्रत्येक चालके द्रष्टा हो। प्राणोंकी प्रत्येक क्रिया और चेष्टामें जीवन देनेवाले हो। प्राण तुम्हारे आश्रित हैं। तुम प्राणोंके आधार हो—जीवन हो। प्राण नहीं हो! क्यों अब समझ गये न, कि तुम न देह हो, न नाम हो, न इन्द्रियाँ हो और न मन, बुद्धि और अहंकार हो और न प्राण हो। तुम शुद्ध, बुद्ध, नित्य, चेतन, आनन्दमय आत्मा हो; देहके नाशमें तुम्हारा नाश नहीं होता और देहके बननेमें तुम नये बनते नहीं। नामका महत्त्व और हीनत्व तुम्हें महान् और हीन नहीं बना सकता। तुम तो सदा निर्विकार हो! तुम्हें न कोई गाली दे सकता है, न तुम्हारा अपमान कर सकता है, न तुम्हें मार सकता है, और न तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट कर सकता है। तुम अपने स्वरूपमें सदा स्थिर अचल प्रतिष्ठित हो। इस बातको समझो और जगत्के द्वन्द्वोंसे अविचल रहो। यह स्वरूपस्थिति ही तुम्हारी असली स्थिति है। इसको पा लेनेमें ही; पा लेना क्या, अपनी इस नित्य स्वरूप-स्थितिको जान लेनेमें ही तुम्हारी सफलता है। इसे जान लोगे तो तुम महात्मा बन जाओगे। नाम, रूप और इन्द्रिय, मन आदिको आत्मा मानना ही अधमत्व है और आत्माको अपने महत् स्वरूपमें अविचल देखना ही महात्मापन है।

यह महात्मापन केवल ऊपर लिखी पंक्तियोंके लिखने-पढ़ने या कहने-सुनने, जान लेनेसे ही नहीं प्राप्त होता। रटंत तो तोता भी करता है। वेदान्तके सभी पढ़नेवाले इन बातोंको पढ़े होते हैं, परंतु इससे क्या होता है? असली जानना तो वह है जब शरीर, मन आदिसे अहंता-ममता सर्वथा हट जाय और सचमुच ही इनके हानि-लाभमें आत्माको कुछ भी हानि-लाभका अनुभव न हो और उसकी स्वरूपस्थिति नित्य अच्युत रहे।

हमलोग कहना सीख लेते हैं और लोगोंको सिखाने लगते हैं, परंतु स्वयं वैसा करना, वैसा बनना नहीं सीखते। बने हुए कहलाना चाहते हैं, महात्मा बनकर पुजवाना चाहते हैं, परंतु वस्तुतः महात्मापन स्वीकार नहीं करना चाहते। इसीसे किसी मतविशेषके आग्रही बनकर कोरे उपदेशक रह जाते हैं। सुख-दुःखकी लहरोंमें बहनेवाले, अशान्तचित्त, मायामोहित साधनहीन प्राणीमात्र रह जाते हैं। जिस समय शरीर, मन, वाणीसे सर्वथा पृथक् आत्माका स्वरूपनिर्देश करते हुए उपदेश करते हैं, उसी समय गहराईसे देखनेपर पता चलता है, हमारी स्थिति शरीर-मनमें ही है, हम उन्हींके सुख-दुःख—मानापमानको अपना सुख-दुःख—मानापमान समझकर हर्ष-शोककी मानसिक तरंगोंमें डूबते-उतराते रहते हैं! यह दशा शोचनीय है। इससे अपनेको बचाओ, इससे निकलकर ऊपर उठो; बस, यही पुरुषार्थ है, यही साधन है, इसीमें लगे रहो! सच्चे साधक बनो—कहनेमात्रके सिद्ध महात्मा नहीं!

~~०~~